सिद्धांत का कर्म

परम्पराओं के आर-पार चिंतन

प्रथमा बनर्जी, आदित्य निगम और राकेश पाण्डेय

अनुवाद : नरेश गोस्वामी
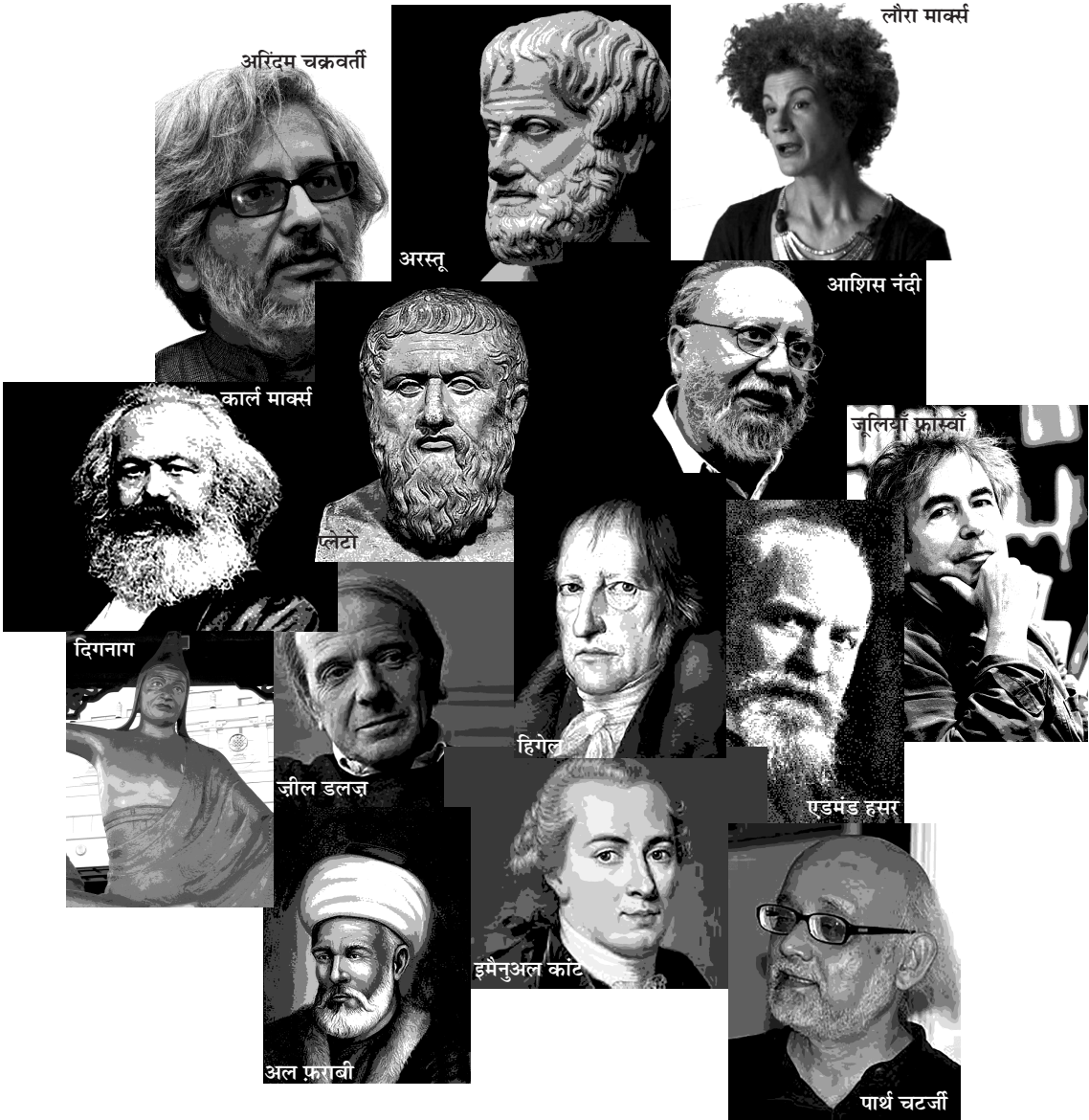
यह एक पेचीदा सवाल है कि इतिहास और शास्त्र-रचना का मीज़ान अपने पक्ष में किस तरह बैठाया जाए। इस जटिलता का कारण यह है कि इसमें एक क़िस्म के अविवेचित सार्वभौमवाद अथवा नौसिखिये इतिहासवाद के जाल में फँस जाने का ख़तरा निहित है। प्रस्तुत लेख में यह तज़वीज की गयी है कि हमें पश्चिमी सिद्धांत की आलोचना-वृत्ति से हट कर अलग-अलग स्रोतों और इतिहास के विभिन्न रूपों का विनियोग करते हुए एक नये सिद्धांत के सृजन और संयोजन का प्रयत्न करना चाहिए।

उत्तर-औपनिवेशिक चिंतकों ने पश्चिमी और शेष जगत के बीच बद्धमूल 'भिन्नता' के आधार पर पाश्चात्य सिद्धांतों के वैश्विक वर्चस्व का प्रत्याख्यान करते हुए यह भी कहा है कि दोनों जगह आधुनिकता का हुलिया अलग-अलग रहा है। लेकिन, इसके बावजूद इस सैद्धांतिक खेल की शर्तों में कोई ख़ास बदलाव नहीं आया। ज़ाहिर है कि इतिहास से महज़ विरोधी-सुबूत उठा कर और उन्हें भिन्नता का चोला उढ़ा कर सिद्धांत के क्षेत्र में नयी ज़मीन नहीं तोड़ी जा सकती।
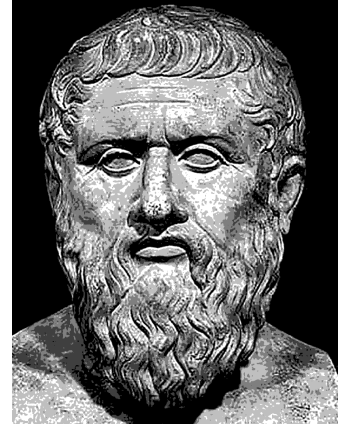
सिद्धांत एक ऐसा पद है जिसका ज़िक्र होते ही ज़ेहन में प्लेटो, अरस्तू, कांट, हिगेल या मार्क्स जैसे नाम उभरने लगते हैं। इस तरह, सिद्धांत नामक यह पद पश्चिम में सृजित दार्शनिक चिंतन का एक ऐसा तैयारशुदा संग्रह प्रतीत होता है जो या तो हमें मोहित करता है (एक ऐसा कर्म जिसमें 'वे' यानी पश्चिम के विद्वान पारंगत होते हैं) अथवा जिससे हमें अरुचि होने लगती है (क्योंकि हमें लगता है कि हमारे सरोकार दर्शन के बजाय समाज-विज्ञान से है)। हम में जो लोग सिद्धांत के प्रति ज़्यादा लगाव रखते हैं, वे अलमारी से ताज़ातरीन सिद्धांत उठा कर अपने संदर्भ पर 'चस्पाँ' करने की जुगत में लगे रहते हैं। यह सब करते हुए उन्हें इस बात का ख़याल नहीं रहता कि इस सिद्धांत की उत्पत्ति का केंद्र युरोप में स्थित है। इसकी वजह शायद हमारी यह मान्यता है कि सिद्धांत अपनी परिभाषा की बनावट से ही सार्वभौम होता है। दूसरे शब्दों में, सिद्धांत के साथ हमारा संबंध मातहती, उधारी और अकसर गहरे परायेपन से ग्रस्त रहता है।

ज़रा एक बार सातवें और आठवें दशक में उत्पादन-प्रणाली को लेकर उभरी बहस पर नज़र डालें। उस वक़्त विभिन्न अर्थशास्त्री और इतिहासकार यह निर्धारित करने के लिए कि भारत की अर्थव्यवस्था पूँजीवादी है या नहीं— भारतीय कृषि पर मार्क्सवाद 'लागू' करने, मेहनताने, बाज़ार के रुझान, अधिशेष-संग्रह आदि की शिनाख़्त करने में लगे थे। अंतत: यह बहस इस बिंदु पर जा उलझी कि अगर भारत में पूँजीवाद नहीं था तो यहाँ एक अर्ध-सामंती (पूँजीवाद की सम्भावनाओं से लैस) व्यवस्था अथवा 'पिछड़े' क़िस्म का पूँजीवाद या फिर एक ऐसी व्यवस्था मौजूद थी जिसमें ग़ैर-पूँजीगत उत्पादन 'पूँजीवादी उत्पादन में सम्मिलित' था।[1] इस बहस में यह स्वीकार करने वाले कुछ लोग भी शामिल थे कि उजरती श्रम तथा बाज़ार के रुझान जैसे लक्षणों का इतिहास औपनिवेशिक काल से और पीछे जाता है, लेकिन उनके सिद्धांत का संदर्भ-बिंदु भी युरोप की 'संक्रमण-अवस्था संबंधी बहस' (ट्रांज़िशन डिबेट) से हटने के लिए तैयार नहीं था। दरअसल, कुछ विद्वानों ने हाल ही में बेबाक़ ढंग से पूछना शुरू किया है कि संक्रमण-अवस्था की बात करने वाले अंग्रेज़ों के इस मॉडल को हमारे जैसे समाज पर कैसे लागू किया जा सकता है जिसके पास पूँजी के आदिम संचय की पूर्ति करने के लिए उपनिवेशों का दोहन जैसी कोई सुविधा मौजूद नहीं थी।[2]

[1] देखें, उत्सा पटनायक (1990).; ऐलिस थोरनर (1982) : 1961-68.
[2] कल्याण सान्याल (2007).

इसी तरह भारत में नवें दशक के दौरान सेकुलरवाद पर हुई उस बहस पर नज़र डाल कर भी देखा जा सकता है जब बाबरी मस्जिद के ध्वंस हेतु जनता की व्यापक लामबंदी देख कर अनेक विद्वानों को यह एहसास हुआ था कि सेकुलरवाद के संबंध में उनकी प्रस्थापनाएँ बहुत दूर तक नहीं जाती। उस वक़्त कुछ विद्वानों ने अपनी अयोग्यता का मुज़ाहिरा करते हुए भारतीय सेकुलरवाद जैसी एक नयी निर्मिति का सिक्का चलाने की भी कोशिश की थी। दरअसल, भारतीय सेकुलरवाद के इस विचार से यह साफ़ ज़ाहिर हो गया था कि मूलत: ईसाईयत से निकली और भारत के लिहाज़ से नितांत अजनबी अवधारणा— सेकुलरवाद के बिना ऐसे विद्वानों का काम नहीं चल सकता था।[3] इसलिए हमारा तजरुबा यह रहा है कि इतिहास के साथ अपनी भिड़ंत में सिद्धांत अकसर कमज़ोर साबित हुआ है। परिणामस्वरूप इतिहास के ग़ैर-पश्चिमी रूप पर यह तोहमत जड़ दी गयी है कि अपनी अंदरूनी 'कमी' के कारण इतिहास का यह रूप एक असामान्य परिघटना है।

हालाँकि उत्तर-औपनिवेशिक चिंतकों ने पश्चिमी और शेष जगत के बीच बद्धमूल 'भिन्नता' के आधार पर पाश्चात्य सिद्धांतों के वैश्विक वर्चस्व का प्रत्याख्यान करते हुए यह भी कहा है कि दोनों जगह आधुनिकता का हुलिया भी अलग-अलग रहा है। लेकिन, इसके बावजूद इस सैद्धांतिक खेल की शर्तों में कोई ख़ास बदलाव नहीं आया। ज़ाहिर है कि इतिहास से महज़ विरोधी-सुबूत उठा कर और उन्हें भिन्नता का चोला उढ़ा कर सिद्धांत के क्षेत्र में नयी ज़मीन नहीं तोड़ी जा सकती। इससे यह तो पता चल सकता है कि प्रचलित परम्पराएँ किस क़दर युरोप-केंद्रित रही हैं, लेकिन सिर्फ़ इतना भर कह देने से स्वायत्त सिद्धांत का कोई अंकुर नहीं फूट सकता। अगर एकबारगी हम अपने विचारों को उधारी के आरोप से बरी भी कर दें, तो भी यह सवाल खड़ा रहता है कि हम पिछले तुलनात्मक साँचे की उस क़ैद से आज़ाद हो कर क्यों नहीं सोच सकते जिसमें पश्चिम के बरअक्स हमारी समानताओं और भिन्नताओं का निकष पश्चिम के सैद्धांतिक साँचों में पहले ही विन्यस्त हो चुका है ?[4]

हम यानी उत्तर-औपनिवेशिक दुनिया के बाशिंदे इस स्थिति को तीन जावियों से देखना चाहते हैं। एक, हम पश्चिम की अलग-अलग विवेचनाओं को अपने अस्तित्व का मुहावरा बना कर चिंतन की सार्वभौम श्रेणियों का पर्दाफ़ाश करते रहते हैं। उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धांत कुछ इसी तरह काम करता है। दूसरे, हमें ऐसी कोई भी बात बड़ी अच्छी लगती है जो पश्चिम की सैद्धांतिक अवधारणाओं को हमारे अनुकूल ठहराती हो। अर्थात्, हम यह मान कर चलते हैं कि पश्चिमी अवधारणाओं के बग़ैर हमारा काम नहीं चल सकता। आख़िरकार आधुनिक अवधारणाओं के नाम पर हमारे पास केवल वही उपलब्ध हैं, लेकिन हम उनका इस्तेमाल कुछ इस तरह करते हैं कि इन अवधारणाओं का आकार-प्रकार बदल जाता है। पार्थ चटर्जी द्वारा प्रस्तुत 'राजनीतिक समाज' की अवधारणा में लोकतंत्र का आख्यान एक ऐसी ही पद्धति का उदाहरण पेश करता है।[5] अंतत: इस क्रम में हम चिंतन की किसी ऐसी प्रामाणिक/देशज प्रणाली का आह्वान करते नज़र आते हैं जो अपने अपरिष्कृत रूप में एक तरह के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद में पर्यवसित हो जाती है। अपने कुछ ज़्यादा नफ़ीस भाष्यों— मसलन आशिस नंदी जैसे विद्वानों के कृतित्व में यह चिंतन आधुनिक/सार्वभौम श्रेणियों जैसे 'सेकुलरवाद', 'राष्ट्रवाद' तथा 'इतिहास' का नकारात्मक और मिथक, आध्यात्मिकता तथा काव्य का सकारात्मक निरूपण बन जाता है।[6]

लेकिन, हमारे विचार से इनमें एक भी पद्धति ऐसी नहीं है जो पश्चिम के अलावा किसी भी अन्य सैद्धांतिक परम्परा से संवाद करने की कोशिश करती हो— प्रत्यालोचना हो या खण्डन, उसका

[3] उदाहरण के लिए देखें, राजीव भार्गव (2014) : 39-58.
[4] शहाना चटर्जी (2011).
[5] पार्थ चटर्जी (2004).
[6] नंदी मिथक या धर्म की अवधारणाओं में न जाकर केवल उनका अवलंब लेते हैं.

संदर्भ-बिंदु पश्चिम ही रहता है। लिहाज़ा, इस निबंध के आख़िर में हम पश्चिमी सिद्धांत को चौथे कोण से देखने का प्रयास करेंगे। हमारा प्रस्ताव दरअसल यह है कि हमें पश्चिमी सिद्धांत के आलोचक की भूमिका से निकल कर एक ऐसे सर्जक की भूमिका अपनानी चाहिए जो एक नया सिद्धांत रचने-गढ़ने के लिए अलग-अलग स्रोतों और इतिहास के बहुरूपों का इस्तेमाल करने से ग़ुरेज न करता हो।

हमारा बुनियादी सवाल यह है कि एक सैद्धांतिक विषय-वस्तु के तौर पर हम स्वतंत्र कैसे हो सकते हैं? हमारा मानना है कि इस सवाल का जवाब ढूँढने के लिए हमें एक और बुनियादी सवाल से टकराना होगा 'सिद्धांत क्या होता है?'। लेख के अगले खण्डों में हमने पद्धतिगत दृष्टि से चार ऐसे अनिवार्य तत्त्वों का निरूपण किया है जो इस सवाल की थाह लेने के लिए निहायत ज़रूरी हैं। लेकिन आगे बढ़ने से पहले इस सवाल पर विचार करना उपयोगी होगा कि चिंतन में अमूर्तन क्या होता है।

इस सवाल पर विचार करना उपयोगी होगा कि चिंतन में अमूर्तन क्या होता है। ... 'अमूर्तन' चिंतन की सार्वभौमिकता के एक पर्याय के रूप में प्रकट होता है। पश्चिम ग़ैर-पश्चिम को किस तरह समझता है, वह अमूर्तन की इसी धारणा से परिभाषित होता है। यह सोचने वालों में हिगेल अकेले नहीं थे कि दुनिया के अन्य लोग जहाँ विशुद्ध रूप से अनुभव और बहुत हुआ तो प्रतीकों में सोचते हैं, वहीं केवल युरोप के लोग ही अमूर्त ढंग से सोच पाते हैं।

अमूर्तन का प्रश्न

सिद्धांत को अकसर अमूर्त चिंतन के रूप में समझा जाता है। यह अमूर्तन कई दफ़ा प्रतिमान की तरह उपस्थित होता है— वह प्रदत्त के बजाय इच्छित से ज़्यादा सरोकार रखता है। इसलिए वह व्यावहारिक दुनिया की सच्चाइयों से अछूता रहता है। यह बात उदारतावादी राजनीतिक दर्शन की सार्वभौम श्रेणियों जैसे लोकतंत्र, समानता और सेकुलरवाद आदि पर भी लागू होती है। अमूर्तन रूपात्मक के अलावा तर्क-सिद्ध भी हो सकता है। ऐंग्लो-अमेरिकी दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में मुख्यत: अवधारणाओं और प्रत्ययों की स्पष्टता व उनकी संगति का अध्ययन करने वाली धारा एनालिटिकल फ़िलोसॉफ़ी को इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। या जैसा कि कॉन्टिनेंटल फ़िलोसॉफ़ी (युरोप में उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी के दौरान विकसित होने वाली दार्शनिक परम्पराओं के लिए एक समेकित संज्ञा) की कुछ शाखाओं से ज्ञापित

होता है, अमूर्तन को विशुद्ध रूप से सत्ता-मीमांसा के अर्थ में भी कल्पित किया जा सकता है। ग़ौरतलब है कि पश्चिमी दर्शनशास्त्र की इस धारा में मनुष्य के अस्तित्व, सत्य, घटना तथा जीवन पर परा-ऐतिहासिक संदर्भ में विचार किया जाता है। ऐसे समस्त उदाहरणों में 'अमूर्तन' चिंतन की सार्वभौमिकता के एक पर्याय के रूप में प्रकट होता है।

पश्चिम ग़ैर-पश्चिम को किस तरह समझता है, वह अमूर्तन की इसी धारणा से परिभाषित होता है। यह सोचने वालों में हिगेल अकेले नहीं थे कि दुनिया के अन्य लोग जहाँ विशुद्ध रूप से अनुभव और बहुत हुआ तो प्रतीकों में सोचते हैं, वहीं केवल युरोप के लोग ही अमूर्त ढंग से सोच पाते हैं।[7] 'आदिम मनुष्यों' की समय को अमूर्त ढंग से देख पाने और धन को प्रतीकात्मक अर्थ में समझ पाने की अक्षमता की व्याख्या करते हुए ग्योर्ग सिमेल और घटना-क्रिया विज्ञान के प्रस्तोता एडमंड हसर ने भी यही कहा था।[8] ज़ील

[7] ज्यॉर्ज हिगेल (1975).

[8] एडमंड हसर (1970). देखें, जितेंद्र नाथ मोहंती (1994).

डलज़ जैसे हालिया और रैडिकल चिंतक का भी यही मानना था कि यूनानी लोग अमूर्त चिंतन में दक्ष थे जबकि 'प्राच्य ऋषि' लक्षणा में चिंतन करते थे।[9]

लेकिन सच यह है कि भारतीय, चीनी तथा चिंतन की अन्य परम्पराओं का परिचय युरोप औपनिवेशिक मुठभेड़ के ज़रिये हिगेल से पहले ही प्राप्त कर चुका था। इसलिए वह सवाल उठाने लगा था कि क्या इन ग़ैर-युरोपीय परम्पराओं को दर्शनशास्त्र के समकक्ष रखा जा सकता है। ज़ाहिर था कि इसका उत्तर नकारात्मक ही होना था। इसके बाद यूनान का दर्शन— *फ़िलिसॉफ़िया* (ज्ञान का अनुराग) चिंतन के कथित तौर पर व्यावहारिक तथा मुक्तिकामी तकाज़ों से लैस अन्य परम्पराओं से कट कर ज्ञान का एक स्वांत:सुखाय कर्म (राजनीतिक उद्देश्य, सामाजिक रुचि अथवा वैयक्तिक कामनाओं से असम्पृक्त) बन कर रह गया। इस तरह युरोप में एक ऐसा दर्शनशास्त्र विकसित हुआ जिसमें *थिओरिया* अथवा एक प्रकार की विशुद्ध मननशीलता अंतस्थ थी, जबकि युरोप के बाहर का दर्शनशास्त्र धर्म और मिथक को साथ लेकर चलता था।[10]

आधुनिकता के दौरान स्थापित होने वाली दर्शनशास्त्र की इस संदिग्ध कल्पना के बारे में बहुत कुछ कहा जा सकता है। मसलन, इस संदर्भ में यह कहना ग़लत न होगा कि दुनिया को एक ऐसे स्थान के रूप में (जिसमें हम रहते हैं) देखने के बजाय, उसे केवल चिंतन की वस्तु बना देने से पश्चिम के आधुनिक चिंतन में कर्ता/वस्तु का युग्म केंद्रीय तत्त्व बनता चला गया। इस युग्म में कर्ता वस्तु-जगत पर एकतरफ़ा तौर पर विचार करता था। दूसरे शब्दों में कहें तो यह वस्तुगत दुनिया सिद्धांत की आँख के सामने खुली पड़ी थी। कहने की ज़रूरत नहीं है कि तर्क के बल पर दुनिया को जीत लेने का आधुनिक आख्यान कर्ता/वस्तु के इसी युग्म पर टिका था। इसलिए सिद्धांत के रूप में विचार का अमूर्तन दुनिया के प्रति अनिवार्य तौर पर एक निहायत व्यावहारिक, तकनीक-प्रधान तथा उपनिवेशवादी रवैया रखता था। मार्टिन हाइडेगर ने यह बात बीसवीं सदी की शुरुआत में दर्ज की थी[11] और आज 'भौतिकतावाद के नये भाष्यकार' भी यही मानते हैं।[12]

उन्नीसवीं शताब्दी के परवर्ती काल में भारत के औपनिवेशिक बुद्धिजीवियों में अपनी बौद्धिक परम्पराओं को दर्शनशास्त्र के इस वर्चस्वी साँचे में ढालने का मर्ज़ पैदा हुआ। ख़ुद को आध्यात्मिक या मिथक-प्रेमी अथवा अतिशय व्यावहारिक होने की तोहमत से बरी करने की यह फ़िक्र इतनी ज़्यादा थी कि वे संस्कृत के शब्द-संसार में फ़िलॉसफ़ी का समानार्थी शब्द खोजने निकल पड़े। इसके परिणामस्वरूप कई दिक़्क़तें सामने आयीं। मसलन, *दर्शन* को फ़िलॉसफ़ी के समकक्ष रखने के फेर में भारतीय बुद्धिजीवी यह भूल बैठे कि *थिओरिया* जैसे चाक्षुष रूपक की प्रतीति कराने के बावजूद इस शब्द में अर्थ-चिंतन जैसी कोई बात नहीं थी। इस शब्द से केवल देखने या परिप्रेक्ष्य का बोध होता था और इसे *मत* या *वाद* का समानार्थी माना जा सकता था। लिहाज़ा अपने अर्थ में दर्शन अनिवार्य तौर पर बहुवचनीय और बहस तलब था।[13]

कुछ लोगों ने फ़िलॉसफ़ी के नाम पर अन्वीक्षिकी जैसा शब्द चलाने की भी कोशिश की जबकि इससे विचार के किसी भी विशिष्ट क्षेत्र का बोध नहीं होता था। इससे केवल 'विवेचनात्मक और खोजपरक तर्क-वितर्क' का आशय निकलता था। यह चिंतन का एक ऐसा तरीक़ा था जो राजनीति के साथ-साथ सभी क्षेत्रों के लिए उपयुक्त था।[14] यह एक उल्लेखनीय बात है कि अपने समय के विभिन्न दर्शनों को क्रमबद्ध और व्यवस्थित करने वाले जैन चिंतकों द्वारा अपनाई गयी इस परिप्रेक्ष्यगत बहुलता से ही *अनेकांतवाद* की ज़मीन

[9] ज़ील डलज़ एवं फ़ेलिक्स गोठारी (1994).
[10] पीटर जे. पार्क (2013).
[11] मार्टिन हाइडेगर (1977).
[12] ज़ील डलज़ एवं फेलिक्स गोठारी (1994).
[13] विल्हेम हैल्बफ़ास (1988) तथा आना-प्या हदि (2011) : 534-46.
[14] जैसा कि ज्ञात है, राज्य के कामकाज के संदर्भ में 'अन्वीक्षिकी' का सबसे प्राचीन प्रयोग कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* में मिलता है.

तैयार हुई। अनेकांतवाद का प्रत्यय कहता था कि चूँकि वस्तुओं के गुणधर्म और उनके अस्तित्व की विधि अपरिमित होती है, इसलिए मनुष्य का परिमित बोध उन वस्तुओं के समस्त आयामों की थाह नहीं ले सकता।[15] दूसरे शब्दों में, इस प्रत्यय में यह बात अंतर्निहित ढंग से स्वीकार की गयी थी कि फ़िलॉसफ़ी की तरह ऐसी कोई महा-अवधारणा नहीं होती जिसे परम ज्ञान की प्रणाली कहा जा सके और जो अपनी अर्मूतता के बल पर प्रदत्त तथा परिप्रेक्ष्यगत ज्ञान के समस्त रूपों को धारण कर सके। इसके अनुसार चिंतन के समस्त रूप परिस्थितिजन्य और आंशिक होते हैं।

ज़ाहिरा तौर पर इसका मतलब यह नहीं है कि भारत या विश्व के अन्य भागों में अमूर्त चिंतन जैसी कोई शै ही नहीं थी। मसलन, न्याय दर्शन में प्रमाण का सिद्धांत बेहद अमूर्त ढंग से काम करता था। कुल बात यह है कि तब अमूर्तन को अनिवार्यत: चिंतन की उच्चतम प्रणाली नहीं माना जाता था और न ही उसे चिंतन का तयशुदा साँचा मान लिया गया था। चिंतन के आख्यान, दृष्टांत और रूपकगत तरीक़ों; अथवा उसे युग्मों और उदाहरणों के ज़रिये प्रस्तुत करने वाली तथा संदर्भ के अनुसार उपयुक्त अन्य युक्तियों के बीच चिंतन की अमूर्त धारा भी अपनी जगह रखती थी, परंतु उसे सर्वोपरि या एकमात्र नहीं माना जाता था।

दुनिया को एक ऐसे स्थान के रूप में (जिसमें हम रहते हैं) देखने के बजाय, उसे केवल चिंतन की वस्तु बना देने से पश्चिम के आधुनिक चिंतन में कर्ता/वस्तु का युग्म केंद्रीय तत्त्व बनता चला गया। इस युग्म में कर्ता वस्तु-जगत पर एकतरफ़ा तौर पर विचार करता था। दूसरे शब्दों में कहें तो यह वस्तुगत दुनिया सिद्धांत की आँख के सामने खुली पड़ी थी। कहने की ज़रूरत नहीं है कि तर्क के बल पर दुनिया को जीत लेने का आधुनिक आख्यान कर्ता/वस्तु के इसी युग्म पर टिका था।

व्यवहार के रूप में सिद्धांत: वैश्विक अवधारणाएँ

सिद्धांत को अमूर्त विचार का जामा पहना कर और शेष दुनिया को अमूर्त चिंतन की क्षमता से हीन घोषित करके आधुनिक युरोप ने न केवल 'सिद्धांत' पर क़ब्ज़ा जमा लिया बल्कि अपने लिए सिद्धांत/व्यवहार के द्विभाजन का एक कभी न ख़त्म होने वाला गोरखधंधा भी खड़ा कर लिया। विचार के क्षेत्र में द्विभाजन का यह रोग आज पूरी दुनिया में फैल चुका है। चीन के क्लासिकीय चिंतन के इतिहासकार जूलियाँ फ्रांस्वा सिद्धांत/व्यवहार की इस फाँक को प्लेटो के साथ जोड़ कर देखते हैं।[16]

जैसा कि हम जानते हैं, प्लेटो का मानना था कि ब्रह्माण्ड का निर्माण दैवी रूपों से हुआ है तथा वास्तविक संसार इस दैवीय उत्कृष्टता की एक कमतर अनुकृति है। मानवीय जीवन का उद्देश्य— वह चाहे कवि हो, ज्यामितिज्ञ हो अथवा दार्शनिक, इस आदर्श व्यवस्था पर खरा उतरना या उसके निकटतम पहुँचना है। आधुनिकता ने इसी क्लासिकीय यूनान, ख़ासकर ऐथेंस के लोकतांत्रिक राज्य को अपने विचार और राजनीति का मॉडल स्वीकार किया। इसका परिणाम यह हुआ कि आदर्श/यथार्थ का यह द्विभाजन अपने परवर्ती पुनराविष्कारों— मन बनाम पदार्थ, कर्ता बनाम वस्तु तथा भाववाद बनाम भौतिकतावाद जैसे रूप धारण करते हुए युरोपीय चिंतन का स्थायी लक्षण बनता चला गया।

आधुनिकता का आगमन होने पर जब दैवी उत्कृष्टता को दुनिया का मॉडल मानना असम्भव होने लगा तो प्लेटो के आदर्श/यथार्थ के इस द्विभाजन ने अपना आधार एक ऐसे 'कर्ता' में तलाश लिया जो कथित तौर पर नयी उत्कृष्टता की जगह लेकर तर्क का धारक बन बैठा था। हाड़-मांस रहित और
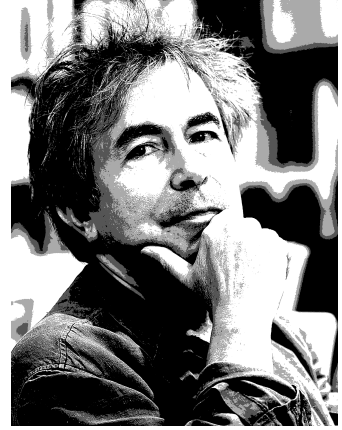
[15] जॉन. एम. कोलर (2000) : 400-07.

[16] जूलियाँ फ्रांस्वा (2004) : 1-3, 52, 54-57.

दुनिया से मुक्त इस कर्ता के बारे में यह धारणा बनाई गयी वह तार्किक और विवेकपूर्ण (रैशनल) ढंग से सोचता है और अगर उसके चिंतन को दुनिया पर लागू कर दिया जाए तो यहाँ सब कुछ अच्छा हो जाएगा। मनो–शारीरिक आवेगों, संवेगों और विक्षिप्तता के विरुद्ध खड़ा यह रैशनल चिंतन राजनीतिक विचारधारा, आर्थिक प्रतिरूपण, सोशल इंजीनियरिंग की रूपरेखा अथवा शहरी नियोजन जैसे विभिन्न रूप धारण कर सकता था। इस प्रस्थापना में कर्ता संसार में अंतस्थ होने के बजाय उससे अलग खड़ा प्रतीत होता है और संसार उसके सामने एक ऐसी खुली चीज़ की तरह पड़ा दिखाई देता है जिसे वह अपने विचार द्वारा अनुभव कर सकता है और फिर उस पर अपनी ओर से कार्रवाई कर सकता है। अमूर्त का विशिष्ट रूप धारण करने वाली ज्ञान–मीमांसा की इसी बाह्यता को आज समाज से सुसंबद्ध और साधारण विचार के बरअक्स खड़ा करके 'सिद्धांत' का उन्वान थमा दिया गया है। ज्ञान का यह अनुकरण–आधारित मॉडल हमें आज भी एक ऐसी जकड़न में फँसाए हुए है कि हमारा व्यवहार आदर्श प्राप्त करने के लिए जुटा रहता है और हमारा विचार यथार्थ का प्रतिनिधित्व करने में उलझा रहता है। और अंततः दोनों मामलों में होता यह है कि हम इच्छित तक पहुँच ही नहीं पाते।

लेकिन जूलियाँ हमें बताते हैं कि दुनिया की सारी संस्कृतियाँ सिद्धांत/व्यवहार के इस द्विभाजित मुहावरे में नहीं सोचतीं। मसलन, प्राचीन काल में चीन के लोग युद्ध के विषय में— जिसे एक तरह से किसी भी कार्य–योजना का शिखर बिंदु कहा जा सकता है, योजना बनाम व्यूह–रचना अथवा सिद्धांत बनाम व्यवहार के संदर्भ में विचार नहीं करते थे। युद्ध उनकी नज़र में योजना (अर्थात् युद्ध के संकल्पन); व्यूह–रचना (ज़मीनी सच्चाई पर आधारित कार्य–योजना); और कार्य–नीति (युद्ध के मैदान में लड़ाई से जुड़ी आकस्मिकता) के बजाय एक निरंतरता का अंग था। अथवा, विचार, बातचीत, कार्रवाई या कोई भी कार्रवाई न करके इंतज़ार या निर्णय करने के अलग–अलग क्षणों में बँटा हुआ कर्म था। लिहाज़ा, प्राचीन चीन में युद्ध सीधी या एकमात्र कार्रवाई (एक्शन), जिसे विचार दो भागों में बाँट कर देखता है, न होने के बजाय एक खुली और असीमित स्थिति का परिचायक था जिसमें उसकी सम्भावना से लेकर उसके परिणाम तक का ख़याल रखा जाता था। जूलियाँ इस तथ्य का भी खुलासा करते हैं कि युरोपीय भाषाओं की तरह चीनी भाषा में सकर्मक अथवा अकर्मक क्रियाओं के बीच कोई भेद नहीं किया जाता जिससे स्पष्ट पता चलता है कि चीन की श्रेष्ठ बौद्धिक परम्पराओं में सिद्धांत/व्यवहार तथा कर्ता/वस्तु जैसे द्विभाजन को महत्त्व नहीं दिया जाता था।

इस तरह, चीन की इन परम्पराओं में विचार या कर्म की महत्ता के बजाय एक ज़्यादा जटिल धारणा— 'इच्छित प्रभाव पैदा करने की क्षमता' अधिक महत्त्व रखती है। इस धारणा में विचार, जीवन और कर्म के वे समस्त क्षेत्र एक साथ उपस्थित रहते हैं जिन्हें हम अलग–अलग करके या स्वतंत्र ढंग से देखने के आदी हो चुके हैं। यहाँ यह प्रभावकारी क्षमता न किसी आदर्श के अंतर्निहित सत्य में स्थित मानी जाती है और न ही उसे किसी कर्म की विलक्षणता कह कर अपघटित करने का प्रयास किया जाता है। इसके बजाय वहाँ इस क्षमता को कर्ता या विचार की एक ऐसी योग्यता के रूप में देखा जाता है जो मौजूदा व्यवस्था के अंतराल में घुस कर 'चीज़ों की प्रवृत्ति' को संगठित, पुनर्निदेशित और रूपांतरित कर सकती है। कहना न होगा कि दुनिया इन्हीं प्रक्रियाओं के बीच गति करती है। स्पष्ट है कि दुनिया को यहाँ पर सक्रिय और अविरत प्रक्रिया; निर्जीव वस्तुओं के विचारणीय परिक्षेत्र के बजाय एक प्रवाह अथवा सक्रियता के धक्के की प्रतीक्षा करती प्राक् राजनीतिक अक्रियता की तरह देखा जा रहा है। यह एक ऐसी अंतर्दृष्टि है जिसकी ध्वनि भारत की बौद्ध परम्परा में सुनी जा सकती है। इस प्रकार, यहाँ क्षमता को प्रक्रिया के अमूर्तन अथवा उसके क्षणिक स्थगन में कल्पित समय और विचार के बजाय उसमें प्रवेश करने, रमने और उससे सहबद्ध होने पर निर्भर माना जाता है।

अगर हम सिद्धांत को इच्छित प्रभाव पैदा करने की इस क्षमता के अक़्स में पुनर्परिभाषित करने की कोशिश करें तो यह साफ़ देखा जा सकता है कि सिद्धांत दुनिया को अमूर्त रूप में कल्पित करने

के बजाय केवल उसे जानने-समझने का एक विशिष्ट ढंग होता है। एक तरह से कहें तो ऐसे में हमारे हाथ जो छवि लगती है वह चिंतन से उपजे तथ्यों यानी सिद्धांत को व्यवहार में उतारने की नहीं होती। इसके बजाय वह सिद्धांत के स्वयं एक गतिविधि होने— 'यथार्थ' से गुज़र कर दुनिया को संसाधित करने की छवि होती है। अर्थात्, इस छवि में सिद्धांत दुनिया को ऊपर से 'आलोकित' करने वाले प्रकाश के बजाय एक ऐसा प्रत्यय होता है जो स्वयं इसके अंदर उत्पन्न होता है और इसे भीतर से उद्भासित करते हुए इसके प्रत्यक्ष और बोधगम्य आकार को रूपांतरित कर डालता है। इस तरह, सिद्धांत की रूपांतरकारी क्षमता यह नहीं होती कि उसे व्यवहार के क्षेत्र में सफलतापूर्वक लागू कर दिया जाए, बल्कि उसकी यह क्षमता इस बात में निहित होती है कि वह हमारे विश्व-बोध को बदलने की कितनी योग्यता रखता है। दूसरे शब्दों में, सिद्धांत को अमूर्त विचार मान कर सिद्धांत/व्यवहार के शाश्वत जाल में फँसने के बजाय सिद्धांत को स्वयं ही व्यवहार के रूप में संकल्पित करना ज़्यादा सार्थक होगा।

शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी

दैनिक जीवन की व्यावहारिक अवधारणाओं को कारगर बनाने के लिए विद्वत्ता और दार्शनिकता की ज़रूरत पड़ती है। और यह एक चिंतन तथा साधनापूर्ण प्रक्रिया होती है क्योंकि किसी भी काम या अभ्यास की तरह विद्वत्ता के भी अपने मानक, नियम और अनुशासनिक बंधन होते हैं जिन्हें अलग से सीखना, परिमार्जित करना और सिखाना होता है। फिर भी, हमारे तर्क का आशय यह है कि सिद्धांत को उसकी दैवी ऊँचाई से उतार कर सामान्य जीवन और चिंतन के साथ नत्थी करने की ज़रूरत है।

एक स्तर पर यह कोई अनूठी बात नहीं है। सामान्य चिंतन की भाँति सिद्धांत को भी एक ऐसे विशिष्ट व्यवहार की श्रेणी में रखा जा सकता है जो जीवन को किसी सरल भिन्नता या अन्यता के बजाय एक जटिल संबंध के रूप में देखता है। अगर हिंद-फ़ारसी और अरबी काव्य-शास्त्र के संबंध में शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी का दृष्टांत सामने रख कर बात की जाए तो हमारे वास्ते सिद्धांत विश्व के अनुकरण और अनुभूति के यथातथ्य अंकन (प्राचीन यूनान में प्रचलित धारणाओं के अनुसार) का पर्याय नहीं, बल्कि दुनिया में नये अर्थों और प्रभावों का सृजन है। अगर हम इस नुक़्ते पर सहमत हो जाते हैं कि चिंतन के अन्य तरीक़ों की तरह सिद्धांत (और फ़िलॉसफ़ी) 'ज्ञान' और 'चिंतन' के किसी अतींद्रिय क्षेत्र को इंगित न करके दुनिया में हमारे होने से वास्ता रखता है तो इससे कई नये तात्पर्य निकलते हैं।

अपने स्थूलतम रूप में 'सिद्धांत' को सामान्य 'व्यवहार' के एक क्षण की तरह भी देखा जा सकता है। व्यवहार के समस्त रूप तर्क-वितर्क की उस प्रक्रिया के ज़रिये अस्तित्व में आते हैं जिसमें या तो तर्क प्रचलित व्यवहार के संदर्भानुरूप अवस्थित होते हैं अथवा अपनी वैधता सिद्ध करने के लिए प्रचलित व्यवहार के विरोध में सन्नद्ध रहते हैं। इन तर्क-वितर्कों या दावों को रोज़मर्रा के सिद्धांतीकरण की तरह देखा जा सकता है जिसमें तथ्यों को कुछ इस तरह पुनर्व्यवस्थित किया जाता है कि पिछले तर्कों का खण्डन किया जा सके और नये तर्कों की सम्भावना का संधान किया जा सके। इस प्रकार के तर्कों में अंतर्भूत अवधारणाओं तथा सामान्यीकरण को व्यावहारिक अवधारणाओं की संज्ञा दी जा सकती है। दार्शनिकों के हाथों में पड़ कर यही अवधारणाएँ ज़्यादा जटिल और अंतर्ग्रंथित हो जाती हैं। मसलन, यह देखना दिलचस्प है कि आज रोज़मर्रा के जीवन में उपलब्ध सामग्री या वस्तुओं से कोई काम की चीज़ बना लेना, जिसे आमफ़हम जबान में *जुगाड़* (फ्रेंच में ब्रिकलाज) शब्द का इस्तेमाल किया जाता है, नयी चीज़ों के लिए कैसे एक सामान्य अवधारणा की तरह स्थापित होता गया है। ग़ौरतलब है कि क्लॉद लेवी-स्त्रॉस के यहाँ रोज़मर्रा का शब्द— ब्रिकलाज, अंतत: मिथकीय चिंतन की एक ऐसी अवधारणा/रूपक के

स्तर पर जा पहुँचा जो बताता है कि पुरातन संस्कृति की निर्मितियों के तत्त्वों और अंशों को आपस में गूँथकर नये मिथकों का सृजन कैसे किया जाता है। एक समय ब्रिकलाज रोज़मर्रा के इस्तेमाल का शब्द था, लेकिन क्लॉद लेवी-स्त्रॉस ने इसे उठा कर एक ऐसी अवधारणा/रूपक के तौर पर प्रतिष्ठित कर दिया जो यह बताती थी कि संस्कृति की पुरातन निर्मितियों का विनियोग करके मिथकीय चिंतन नये मिथकों का सृजन कैसे करता है। जैसा कि हम सब जानते हैं, लेवी-स्त्रॉस से चल कर यह पद केवल कला की विवेचना और क्रिटिकल थियरी तक ही नहीं बल्कि आणविक जीव-विज्ञान तक जा पहुँचा है।[17] इसी तरह, विद्वानों के मुताबिक़ अब जुगाड़ भी अर्थांतरण की विभिन्न प्रक्रियाओं से गुज़रते हुए एक ऐसी स्थिति में पहुँच चुका है जहाँ वह उन आशयों को ध्वनित करने लगा है जिन्हें अभी तक केवल सांस्कृतिक रूप से घटिया और अवैध माना जाता रहा है।[18]

लेकिन, इसका आशय यह नहीं है कि दैनंदिन जीवन तथा फ़िलॉसफ़ी को एक-दूसरे का पर्याय घोषित कर दिया जाए। जैसा कि हमने ऊपर इंगित किया है, दैनिक जीवन की व्यावहारिक अवधारणाओं को कारगर बनाने के लिए विद्वत्ता और दार्शनिकता की ज़रूरत पड़ती है। और यह एक चिंतन तथा साधनापूर्ण प्रक्रिया होती है क्योंकि किसी भी काम या अभ्यास की तरह विद्वत्ता के भी अपने मानक, नियम और अनुशासनिक बंधन होते हैं जिन्हें अलग से सीखना, परिमार्जित करना और सिखाना होता है। फिर भी, हमारे तर्क का आशय यह है कि सिद्धांत को उसकी दैवी ऊँचाई से उतार कर सामान्य जीवन और चिंतन के साथ नत्थी करने की ज़रूरत है।

सिद्धांत और इतिहास

सिद्धांत को गतिविधि या क्रिया के रूप में पुनर्परिभाषित करना इस सवाल को दुबारा उठाने जैसा है कि इतिहास और सिद्धांत तथा तथ्य एवं संकल्पना में क्या पारस्परिक संबंध है। यह चिंतन की कार्यविधि के धरातल को भी नये ढंग से निर्धारित करने जैसा है। बहुत से लोग इस बात से सहमत होंगे कि सिद्धांत को किसी न किसी अर्थ में इतिहास और संदर्भ से मुक्त होना चाहिए; उसे एक निश्चित सामान्यता, संदर्भ और इतिहास से इतर एक निश्चित अभिप्राय अर्जित करना चाहिए। लेकिन हमें यह भी याद रखना चाहिए कि इतिहास से परे जाना भी जोखिम से भरा है क्योंकि इतिहास के अन्य रूपों तथा दूसरी परम्पराओं की सैद्धांतिक विशेषताओं को ठुकरा कर ही पश्चिमी सिद्धांत अपनी सार्वभौमिकता का दावा क़ायम कर पाया है।

लिहाज़ा, हमें सैद्धांतिकी का एक ऐसा अनूठा धरातल गढ़ने की ज़रूरत है जिस पर ऐतिहासिकता के लिए भी जगह हो और जो उससे मुक्त भी रह सके। यह इस बुनियादी प्रश्न को— सिद्धांत क्या है?, दुबारा उठाने का सबसे कठिन पहलू है। इसका मतलब है कि हमें अपना सैद्धांतिक उद्यम अपने ऐतिहासिक संदर्भ में उपलब्ध अमूर्तन की सीमा और स्वरूप तथा अपनी आनुभविक सामग्री के निर्धारण से शुरू करना होगा।

सपाट ढंग से कहें तो इसके लिए हमें हरेक चिंतक को इस आधार पर प्रश्नांकित करना होगा कि उसने अपने सिद्धांतों के लिए किस सामग्री का चुनाव किया है। इसका अंतर्निहित आशय यह है

---

[17] क्रिस्टॉफ़र जॉनसन (2012) : 335-72.

[18] सोलोमन बेंजामिन ने अपने एक लेख, 'दि मल्टीहैडिड हायड्रा ऑफ़ ईस्ट डेल्ही' में 'जुगाड़' की अंतर्निहित सम्भावनाओं की ओर शुरुआती संकेत किया था. यह लेख उन्होंने सराय-सीएसडीएस द्वारा आयोजित कॉन्फ्रेंस में पढ़ा था. देखें, *कंटेस्टिड कॉमंस/ट्रेसपासिंग पब्लिक्स अ पब्लिक रिकॉर्ड* (2005) : 52-73. बाद में अक्तूबर, 2015 में उन्होंने इस विषय पर नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय की व्याख्यान शृंखला में 'रीथिंकिंग द अर्बन इण्डिया ऐंड चाइनीज़ को-प्रोड्यूस्ड अरबनिज़म' शीर्षक से भी एक व्याख्यान दिया था. इस संदर्भ में चटर्जी (2012) का लेख भी उल्लेखनीय है जिसमें उन्होंने जुगाड़ को 'अनुभवनिष्ठ अवधारणा' कहते हुए उसे उत्तर-औपनिवेशिक राज्य तथा शहरी ग़रीबों के 'राजनीतिक समाज' का परिचायक बताया है.

कि फिर हमें मिशेल फूको द्वारा प्रयुक्त ऐतिहासिक दस्तावेज़, ज्योर्जियो अगम्बेन के धर्मशास्त्रीय पाठ और डलज़ की सिनेमाई छवि पर सवाल करने होंगे। इसमें यह कड़ी पड़ताल करना भी शामिल है कि इनमें प्रत्येक चिंतक इन सामग्रियों को किस रूप में इस्तेमाल करता है— क्या वह उन्हें स्रोत, साक्ष्य, दृष्टांत, स्थायी परम्परा, विषय को स्पष्ट करने के लिए सूत्र अथवा किसी का खण्डन-मण्डन करने के लिए पूर्व-पक्ष (विरोधी-पक्ष के तर्कों की आलोचना करने से पहले उससे गहरा परिचय स्थापित करना) के रूप में प्रयोग करता है? हमें इस बात पर भी नज़र रखनी चाहिए कि अमुक चिंतक अपनी सामग्री को किस तरह प्रस्तुत या किस साँचे में रखकर प्रस्तुत करता है— क्या उसकी यह सामग्री पाद-टिप्पणियों; पाठ में उद्धरण, उदाहरणों, आह्वान अथवा विचार के माध्यम के रूप में आती है? यह सब इन्हीं पहलुओं से तय होता है कि किसी सिद्धांत विशेष का अपनी सामग्री और अनुभव के साथ क्या संबंध होता है। सामग्री के साथ यह संबंध ही सिद्धांत की कार्यक्षमता का धरातल निर्धारित करता है। इसे सिद्धांतीकरण के वास्तविक कार्य से पहले और अनुमान के आधार पर तय नहीं किया जा सकता।

हमें सैद्धांतिकी का एक ऐसा अनूठा धरातल गढ़ने की ज़रूरत है जिस पर ऐतिहासिकता के लिए भी जगह हो और जो उससे मुक्त भी रह सके। यह इस बुनियादी प्रश्न को— सिद्धांत क्या है?, दुबारा उठाने का सबसे कठिन पहलू है। इसका मतलब है कि हमें अपना सैद्धांतिक उद्यम अपने ऐतिहासिक संदर्भ में उपलब्ध अमूर्तन की सीमा और स्वरूप तथा अपनी आनुभविक सामग्री के निर्धारण से शुरू करना होगा।

इसके निहित अर्थ को समझने के लिए हमें इतिहास/सिद्धांत के उस विन्यास से मुक्त होना पड़ेगा जो सिद्धांत के प्रचलित रूप के लिए ज़िम्मेदार रहा है। हम जानते हैं कि ज्ञानोदय के विचार का उद्‌भव सार्वभौम इतिहास के उत्थान पर आधारित था। सार्वभौम इतिहास का विचार मूलत: एक धर्मशास्त्रीय कल्पना पर टिका था जिसमें पूरी दुनिया को ईसाईयत की असीम परमसत्ता के रूप में कल्पित किया गया था। आधुनिकता की आमद पर इस इतिहास को पुनर्विन्यस्त किया गया और उसमें ईसाईयत की जगह उपनिवेशवाद प्रमुख हो गया। इस तरह अब दुनिया ईसाईयत के बजाय तर्क -विवेक से शासित होने लगी। अपने इस आधुनिक रूप में 'विश्व-इतिहास' अतीत का आख्यान नहीं बल्कि तर्क-विवेक के ज़मीनी अभियान का एकल दर्शन ज़्यादा था। औपनिवेशिक समयों में इस तर्क-बुद्धि को राजनीतिक सम्प्रभुता की पंक्ति में रखकर देखा जाता था। इसलिए जिस तरह हिगेल राज्य को सार्वभौम तर्क-बुद्धि का मूर्त रूप समझते थे, उसी तरह औपनिवेशिक राज्य ने भी अपना औचित्य तर्क-बुद्धि के नाम पर ही सिद्ध करने का प्रयास किया। 'क़ानून का शासन' औपनिवेशिक राज्य के इसी प्रयास की ओर इंगित करता है।

वि-औपनिवेशीकरण के बाद अब पूँजी को इतिहास का एक ऐसा साक्षात और स्वचालित गुमाश्ता माना जाने लगा है जिसने दुनिया के सभी जन-समुदायों के इतिहासों को अपने में समाहित कर लिया है। स्थिति यह है कि जिन लोगों को पूँजीवाद का आलोचक माना जाता है, उनमें भी बहुत से लोग इस सर्वग्रासी सैद्धांतिक श्रेणी और पूँजी की इस सार्वभौमिक मुहिम के आख्यान में फँस गये हैं।[19] दूसरे शब्दों में, सार्वभौम इतिहास की इस क़वायद के ज़रिये ही पश्चिम आज भी इतिहास के एक विशेष रूप को वैश्विक इतिहास की चालक शक्ति बताने की हिमाक़त करता रहता है। इस तरह,
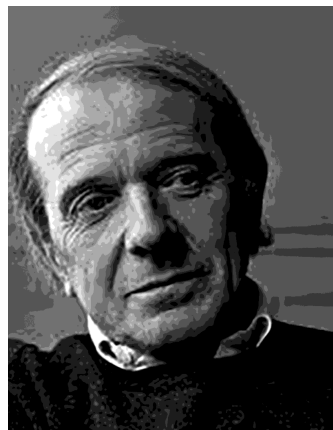
[19] आदित्य निगम (2014) : 482-514.

परा-ऐतिहासिकता के घोषित दावे के बावजूद, यह वर्चस्वी सिद्धांत इतिहास की सार्वभौमिकता के दावे से ही अपना खाद-पानी हासिल करता है।

इस प्रकार, सार्वभौम इतिहास का विकास दर्शनशास्त्र के सार्वभौम इतिहास की निष्पत्ति था। इसके पीछे कांट द्वारा प्रस्तावित अवधारणा— 'निगमनात्मक इतिहास' की प्रमुख भूमिका थी। कांट ने अपनी रचना *क्रिटिक ऑफ़ प्योर रीज़न* के चौथे आलेख में कहा था कि दर्शनशास्त्र का सच्चा इतिहास 'निगमनात्मक इतिहास' अर्थात् ऐतिहासिक इतिहास के बजाय तर्क-विवेक पर आधारित इतिहास ही हो सकता है। इस कथन से कांट का अभिप्राय यह था कि दर्शनशास्त्र के इतिहास को दर्शनशास्त्र के प्रति एक ख़ास रवैया रखना चाहिए। उसे दर्शनशास्त्र को अध्ययन की कोई आमफ़हम चीज़ न मान कर उसके इतिहास को दर्शनशास्त्र के आंतरिक अंग के रूप में देखना चाहिए। इसका आशय यह हुआ कि दर्शनशास्त्र के इतिहास को समय और स्थान विशेष के संदर्भ से आबद्ध न मान कर उसके स्व:ज्ञान का प्रकटीकरण माना जाए। दरअसल, कांट अपने समय के उन लोगों को सम्बोधित कर रहे थे जो विश्व के विभिन्न विचार-तंत्रों— युरोपीय, चीनी तथा भारतीय आदि के बीच तुलनात्मक आवाजाही करते रहते थे। इस तुलना को एक सीमा तक अनुचित मानने के बावजूद, यह ज़रूर स्वीकार करना पड़ेगा कि इससे परम्पराओं की बहुलता के विचार को एक निश्चित प्रकार की स्वायत और भिन्नतामूलक वैकल्पिकता प्राप्त होती थी। कांट द्वारा प्रतिपादित दर्शनशास्त्र के इतिहास का यह विचार जब स्वयं दर्शनशास्त्र में समाहित हो गया तो विचार के अन्य तंत्रों की स्वायत्तता जाती रही। हिगेल ने इस विचार को उलटे सिरे से पकड़ा और 'दर्शनशास्त्र के इतिहास' को 'इतिहास का दर्शनशास्त्र' बना दिया जिसके परिणामस्वरूप विश्व के तमाम विचार-तंत्र उस सार्वभौम 'विचार' के ऐतिहासिक क्षणों का अंग बनकर रह गये जो कथित तौर पर ख़ुद को विश्व के रूप में प्रकट करता रहता है। यही वजह थी कि हिगेल यह कहने की जुर्रत कर पाए कि चीन और भारत के पास भी सत्य की सम्पदा है, लेकिन उनके सत्य को विचार के स्तर तक पहुँचने में अभी समय लगेगा। अर्थात्, हिगेल की दृष्टि में ये सत्य किसी भिन्न प्रकार के दर्शनशास्त्र की ओर इंगित न करके महज़ उसके प्राक्-इतिहास का निर्माण करते थे। इस तरह, ग़ौर से देखें तो हिगेल सत्य के एकाधिकार की बात नहीं करते। उनका मंतव्य तो 'कैसे सोचा जाए?' पर नियंत्रण करना और उस पर पहरा बिठाना है।[20]

इस तरह, कांट के बाद युरोपीय परम्परा में इतिहास का सिद्धांत, सिद्धांत के बृहत्तर दायरे में कुछ इस तरह समाहित हुआ कि वह इतिहास की प्रक्रिया और इस नाते प्रति-इतिहास की चुनौतियों से अछूता रह गया। इतिहासीकरण के प्रति इस अंतर्निहित प्रतिरोध के कारण युरोप के भिन्न-भिन्न कालखण्डों—प्राचीनतम से लेकर आधुनिक चिंतकों और मुख़्तलिफ़ संदर्भों यानी प्लेटो और मार्क्स से लेकर डलज़ को एक ऐसी एकसार समकालीनता में पिरोना आसान हो गया कि सिद्धांत शाश्वत और सार्वभौम दिखाई देने लगे। अब ज़रा इस उलटबाँसी पर ग़ौर करिए कि ग़ैर-पश्चिम के अभिनवगुप्त या अल-फ़राबी जैसे प्राक्-औपनिवेशिक चिंतकों, जो अपने इतिहास और संदर्भों में गहरे व्याप्त हैं और जिन्हें हम अपने आधुनिक चौखटों से बमुश्किल बाहर रख पाते हैं, को तो हम बिसरा देते हैं जबकि हमें प्लेटो और अरस्तू जैसे कालच्युत हो चुके युरोपीय चिंतकों का पारायण करना एकदम मौज़ूँ लगता है।

कांट और हिगेल के बाद पश्चिमी सिद्धांत ख़ासा लम्बा सफ़र तय कर चुका है। लेकिन हमने इतिहास/दर्शनशास्त्र के जिस विशिष्ट विन्यास की रूपरेखा ऊपर खींची है, उसका वर्चस्व आज तक बना हुआ है। यही वजह है कि युरोपीय इतिहास के कुछ निश्चित पहलू आनुभविक इतिहास के बजाय आज भी दार्शनिक/सैद्धांतिक प्रतिदर्श की तरह जड़ जमाए हुए है। इससे होता यह है कि जब

[20] विल्हेम हैल्बफ़ास (1988).

हम युरोपीय सिद्धांत का अध्ययन करते हैं तो इतिहास और दर्शनशास्त्र तथा तथ्य और अवधारणा की सीमा-रेखाएँ भंग हो जाती हैं। तब यह होता है कि हमें एक ऐतिहासिक वक्तव्य दार्शनिक वक्तव्य लगने लगता है और कोई ऐतिहासिक घटना दार्शनिक घटना बन जाती है। इस तरह, फ्रांसीसी क्रांति अपने स्थानीय और आनुभविक संदर्भ से आगे बढ़कर स्वतंत्रता, समानता और लोकतंत्र की दार्शनिक अवधारणा का रूप धारण कर लेती है। यह एक ऐसा विशेषाधिकार है जो एशियाई और अफ्रीकी मुक्ति-संग्रामों की तो छोड़िए, कभी रूसी या चीनी क्रांतियों को भी नहीं दिया जाता! ऐसी तमाम घटनाएँ महज़ आनुभविक/ऐतिहासिक बनी रहती हैं। इसी तरह, अंग्रेजों के इतिहास के एक अध्याय विशेष—'शामलात ज़मीनों की बाड़ेबंदी', को 'आदिम संग्रह' का नमूना बता कर और उसे एक ही साँस में सैद्धांतिक मानक व ऐतिहासिक अनिवार्यता साबित करके पूँजी के सार्वभौम इतिहास का आधार घोषित कर दिया गया।

सिद्धांत के क्षेत्र में हमारी मौजूदा दिक़्क़तों की वजह सिर्फ़ यह नहीं है कि हम ऐसी अवधारणाओं में सोचते हैं जिनमें हमारे इतिहास की धड़कनें सुनाई नहीं देतीं। इसकी वजह यह भी है कि इन अवधारणाओं में ख़ुद उनका अपना इतिहास भी प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित नहीं है। इसके बजाय ये अवधारणाएँ एक ऐसी ऐतिहासिकता के रूप में काम करती हैं जिसे पूरी तरह मिटा दिया गया है। हम जिसे सैद्धांतिक अमूर्तन के तौर पर जानते हैं, वह दरअसल यही लुप्त ऐतिहासिकता है जो इसे एक ही साथ एकांतिकता तथा सार्वभौमिकता के तत्त्व से मण्डित करती है।

दूसरे शब्दों में, सिद्धांत के क्षेत्र में हमारी मौजूदा दिक़्क़तों की वजह सिर्फ़ यह नहीं है कि हम ऐसी अवधारणाओं में सोचते हैं जिनमें हमारे इतिहास की धड़कनें सुनाई नहीं देती। इसकी वजह यह भी है कि इन अवधारणाओं में ख़ुद उनका अपना इतिहास भी प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित नहीं है। इसके बजाय ये अवधारणाएँ एक ऐसी ऐतिहासिकता के रूप में काम करती हैं जिसे पूरी तरह मिटा दिया गया है। हम जिसे सैद्धांतिक अमूर्तन के तौर पर जानते हैं, वह दरअसल यही लुप्त ऐतिहासिकता है जो इसे एक ही साथ एकांतिकता तथा सार्वभौमिकता के तत्त्व से मण्डित करती है। इस प्रकार, जहाँ सिद्धांत आज भी युरोपीय इतिहास के चिह्नों से चालित हो रहा है, वहीं स्वयं इस इतिहास को सैद्धांतिक क्षमता से वंचित रखा गया है। इसीलिए इतिहास के अन्य रूप आज तक प्रति-तथ्यात्मक हैसियत से आगे नहीं बढ़ पाए हैं।

अब सवाल यह उठता है कि फिर इतिहास और सिद्धांत के इस संबंध को हम अपने पक्ष में किस तरह नियोजित करें कि एक ओर स्थूल सार्वभौमिकता तथा दूसरी तरफ़ उस अनगढ़ इतिहास के गर्त में गिरने से बचे रहें जो यह यक़ीन करके चलता है कि केवल भिन्न क़िस्म का इतिहास रचने भर से नया सिद्धांत खड़ा हो जाएगा? स्पष्ट है कि यह काम सैद्धांतिक खेल के नियमों को पुनर्नियोजित करके ही पूरा किया जा सकता है। हमारा कहना है कि हमें सिद्धांत को विचार (व्यवहार नहीं), अमूर्तन (आनुभविक नहीं) के एक स्तर अथवा स्वसीमित परिक्षेत्र की तरह देखने के बजाय अलग-अलग स्तरों के बीच एक संचरण की तरह देखना चाहिए। इस तरह सिद्धांत आनुभविक और ऐतिहासिक दस्तावेज़ों के ब्योरों; ऐथ्नॉग्राफ़िक टिप्पणियों, साहित्यिक पाठों तथा चाक्षुष छवियों आदि की अवधारणागत, सृजनात्मक; यहाँ तक कि अनुमानपरक चेतना-पट्ट के बीच एक ऐसी आवाजाही बन जाता है जो घूम-फिर कर आनुभविक/ऐतिहासिक की ओर लौट आता है। इस अवतरण की एक ऐसे चेतना-पट्ट के रूप में कल्पना की जानी चाहिए जिसे अनेकानेक रूपों— अत्यंत विशिष्ट से लेकर अन्यतम अमूर्त और उनके बीच की बहुत सी परतों के बावजूद सार्वभौम/ऐतिहासिक अथवा अमूर्त/मूर्त या लोकात्तर/आसन्न जैसी किसी पूर्व-प्रदत्त और मौजूदा दौर की वर्चस्वी द्वैधता में सीमित नहीं किया जा सकता।

विचारों की सरहदें नहीं होती

ऐतिहासिक भिन्नता को रद्द किये बग़ैर, सिद्धांत की सर्वसामान्यता स्थापित करने का तरीक़ा यह है कि चिंतन को किसी एक खूँटे से न बाँध कर परम्पराओं के बीच आवाजाही की जाए। यह विचारों के अतिशय स्थानिकतावाद से धुर अलग बात है। जैसा कि प्राक्-औपनिवेशिक दुनिया के सैद्धांतिक नक़्शे से साफ़ ज़ाहिर होता है, विचार राष्ट्रीय और महाद्वीपीय सरहदों के आर-पार यात्रा करते रहे हैं। चीन, तिदबत और पूर्वी भारत की तरह पिछले वक़्तों में सैद्धांतिक गतिविधियों का एक केंद्र उत्तरी अफ़्रीका, एशिया माइनर तथा भूमध्यसागरीय युरोप में भी था। लिहाज़ा, किसी वैचारिक परम्परा पर राष्ट्रीय या साभ्यतिक अर्थ में अनन्यता का दावा करना निपट झूठी बात है। यह कोई अचरज की बात नहीं है कि युरोप अपने चिंतन में पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ़्रीका के योगदान को मिटाकर ज्ञानोदय और यूनान के क्लासिकल चिंतन के बीच सीधा संबंध देखने का हिमायती रहा है।[21] इसलिए युरोप की मुख्यधारा का सिद्धांत उस झूठी स्थानिकता पर खड़ा है जो वस्तुत: उसकी सार्वभौमिकता के दावे का प्रति-पक्ष है। राष्ट्रवाद से हम इसलिए परहेज़ करते हैं क्योंकि हमारा मानना है कि आधुनिक युरोपीय चिंतन सहित कोई भी विचार न पूरी तरह स्वाधीन होता है, न पूर्णरूपेण देशज।

इसलिए परम्पराओं के आर-पार जाता यह चिंतन समझ की इस शर्त पर टिका है कि कोई भी सैद्धांतिक परम्परा संदर्भों की अन्योन्यक्रिया में सम्पन्न होती है। यहाँ सरुक्कै की यह बात याद की जा सकती है कि कोई भी पद अपनी अवधारणात्मकता विभिन्न भाषाओं तथा प्रस्थापनाओं के बीच आवाजाही करने से ही अर्जित करता है और इस प्रक्रिया में वह ऐसी सूक्ष्म अर्थ-छवियाँ भी हासिल करता जाता है जो उसके शादिदक और भाषा-शास्त्रीय अर्थों से कुछ ज़्यादा बयान करती हैं।[22]

परम्पराओं के आर-पार यात्रा करते इस चिंतन का एक अच्छा उदाहरण नये मीडिया तथा डलज़ की अध्येता लौरा मार्क्स को माना जा सकता है। डलज़ की अवधारणाओं की पूर्व-पीठिका पर निगाह डालते हुए मार्क्स इंगित करती हैं कि डलज़ ने अपने पूर्ववर्ती चिंतकों गॉटफ्रीड लीबनिज़ तथा डंस स्कॉट्स से क्या-क्या ग्रहण किया और स्वयं इन चिंतकों ने बुखारा में रहने वाले ग्यारहवीं सदी के इब्न सिना जैसे अरब दार्शनिकों से क्या हासिल किया था। मार्क्स इशारा करती हैं कि यह बौद्धिक अतीत युरोपीय चिंतन की अँतड़ियों में पड़ा है इसलिए वह अकसर दिखाई नहीं देता। लेकिन अगर कोई डलज़ के विचार की 'गुत्थी' खोलना चाहे तो उनकी अवधारणा— अस्तित्व की *युनिवोसिटी, ऐनफोल्ड/अनफोल्ड* द्वैधता तथा इस्लामी अवधारणा—*तौहीद, ज़ाहिर* और *बातिन* में एक आपसी संबंध देख सकता है। इससे भी ऊपर यह बात है कि डलज़ की असीमता की अवधारणा तथा ईश्वर को अचिंत्य, अरूप और नये रूपों का असीम सर्जक मानने की इस्लामी कल्पना में एक सह-संबंध देखा जा सकता है।

लेकिन, मार्क्स इन्हें महज़ इतिहास के दिलचस्प तथ्य मान कर नहीं चलतीं। उनके लिए यह सैद्धांतिक बराबरी के विस्मृत संसार का स्मरण भी नहीं है। इसे दो पूर्व-निर्मित परम्पराओं की तुलनात्मक क़वायद भी नहीं कहा जा सकता। मार्क्स अपनी थीसिस में डलज़ के विचारों और उनकी अवधारणा *फोल्ड* का इस्तेमाल करती है। पहले वे डलज़ के दर्शन में ईसाई विद्वत्ता और इस्लामी *फ़लसफ़ा* की सुस्पष्ट परम्पराओं की शिनाख़्त करती हैं, और फिर इस्लामी तथा ईसाई चिंतन के उन सूत्रों को वहाँ ले जाकर पुनर्संयोजित करती हैं जहाँ उन दोनों के बीच किसी पूर्व ऐतिहासिक संबंध की कल्पना भी

---

[21] यह मुद्दा पहली बार मार्टिन बरनाल की 1987 में प्रकाशित क्लासिक कृति में उठाया गया था. तब इस पर समझ की प्रकृति और स्थान तथा विशेषीकरण के संदर्भ में एक जबर्दस्त बहस छिड़ी थी. देखें, लेफकॉवित्ज़ (1996) एवं बर्लिनब्लो(1999).

[22] सुंदर सरुक्कै (2013) : 311-30.

नहीं की जा सकती। इसके बाद वे यह दिखाती हैं कि अमूर्त और कंप्यूटर-जनित कला तथा इस्लामी कला व दर्शन के संयोजन से उन अवधारणाओं को कैसे पुनर्कल्पित किया जा सकता है जो मौजूदा दौर की डिजिटल स्थिति— पूर्णत्व, असीमता, कूट-भाषा, वेक्टर, निराकारिता, अलगोरिदम और यहाँ तक कि स्वयं अमूर्तन को समझने के लिए भी बेहद प्रासंगिक हो सकती हैं। इस प्रक्रिया में मार्क्स धर्म और सेकुलरवाद जैसी उन गुत्थियों को पूरी तरह बरतरफ़ कर देती हैं जो इस्लामी दर्शन की तमाम चर्चाओं पर अकसर छाई रहती हैं।

ग़ौरतलब है कि विभिन्न परम्पराओं के बीच आवाज़ाही करने वाला यह चिंतन केवल सैद्धांतिक स्वेच्छा के सहारे नहीं किया जा सकता क्योंकि इसमें भानुमति का पिटारा बन जाने का यह ख़तरा पहले से मौजूद है। इसलिए हमें इस बात पर कड़ी नज़र रखनी होगी कि कहीं अपना तर्क पुष्ट करने के लिए हम किसी परम्परा को साधन न बना बैठें; उसे खा-पचा न लें या सिर्फ़ कौतूहल की चीज़ बना कर न छोड़ दें। विचार की अन्य परम्पराओं के उपयोग का एक तरीक़ा यह हो सकता है कि हम 'क्या' के बजाय 'कैसे' पर ध्यान रखें। अर्थात् किसी परम्परा के तात्त्विक सरोकारों को ग्रहण करने के बजाय यह सवाल पूछें कि उस परम्परा में चिंतन शुरू कैसे होता है।

विभिन्न परम्पराओं के बीच आवाजाही करने वाला यह चिंतन केवल सैद्धांतिक स्वेच्छा के सहारे नहीं किया जा सकता क्योंकि इसमें भानुमति का पिटारा बन जाने का यह ख़तरा पहले से मौजूद है। इसलिए हमें इस बात पर कड़ी नज़र रखनी होगी कि कहीं अपना तर्क पुष्ट करने के लिए हम किसी परम्परा को साधन न बना बैठें; उसे खा-पचा न लें या सिर्फ़ कौतूहल की चीज़ बना कर न छोड़ दें। विचार की अन्य परम्पराओं के उपयोग का एक तरीक़ा यह हो सकता है कि हम 'क्या' के बजाय 'कैसे' पर ध्यान रखें।

किसी परम्परा विशेष में चिंतन के उद्‌भव की प्रक्रिया कैसे सम्पन्न होती है— यह एक ऐसा प्रश्न है जिसे पूछने से सैद्धांतिक एजेंसी की धारणा जन्म लेती है। सैद्धांतिक एजेंसी को किसी सिद्धांतकार के लेखकीय मंतव्य अथवा किसी सिद्धांत की 'विचारधारात्मक' सामर्थ्य के साथ गड्डमड्ड नहीं किया जाना चाहिए। इसे शब्दश: बिल्कुल उसी तरह समझा जाना चाहिए जिस तरह प्रस्थान— वर्तमान तथा भविष्य को सिद्धांतीकरण के द्वारा सम्भव (या प्रतिबंधित) किया जाता है। दूसरे शब्दों में, सैद्धांतिककर्ता ही उस गति का परिपथ होता है जिसे सिद्धांत के ज़रिये क्रियान्वित किया जाता है। यही परिपथ अब तक अनुपलब्ध रहे रास्तों की सफ़ाई करके आगामी चिंतन की ज़मीन के अलावा आनुषंगिक व अन्य उप-उत्पादों का एक अलहदा नेटवर्क तैयार करता है। इस सैद्धांतिक कर्ता में पूर्वानुमानों, सम्भावनाओं तथा किसी सिद्धांत विशेष की अबूझ स्थितियों से सृजित होने वाली एक नयी सामयिक वैचारिकता भी निहित होती है।

भारतीय दर्शन में व्यवहृत 'सूत्र' को सैद्धांतिक कर्ता का एक अच्छा दृष्टांत माना जा सकता है। सूत्र का कृतत्व उसकी इस योग्यता में निहित होता है कि वह किसी विचार को उसके इतने न्यूनतम रूप में कल्पित करने की क्षमता रखता है कि विचार एक बीज का रूप धारण कर लेता है। कोई भी सूत्र अति-संघनन की इस प्रक्रिया से गुज़र कर— जिसे हम किसी विचार के सूक्ष्म ब्योरों के विस्तृत विवरण की ठीक उलटी प्रक्रिया के रूप में समझ सकते हैं, एक ऐसी सामर्थ्य अर्जित कर लेता है, जो हमें भविष्य के चिंतन के लिए आमंत्रित और प्रोत्साहित करता है। और भविष्य में प्रकट होने वाले ये विचार-रूप हमें अपने अभूतपूर्व कौतूहल से भर देते हैं। भारत के क्लासिकीय दार्शनिक चिंतन में टीकाओं की सुदीर्घ परम्परा सैद्धांतिक कर्ता के इसी सूत्र रूप से विकसित हुई थी। सैद्धांतिक कर्ता के कुछ अन्य ज़्यादा परिचित उदाहरणों में प्लेटो के संवाद और हिगेल की द्वंद्वात्मक पद्धति का उल्लेख
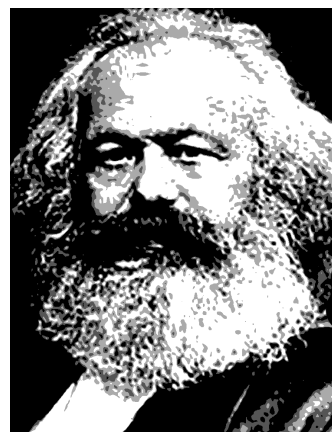
किया जा सकता है। प्लेटो के संवाद में एक ऐसा तत्त्व है जो एक ही समय में कई प्रकार के नज़रियों को मंचस्थ होने का अवसर प्रदान करता है और विनिमय की इस पहले से जारी प्रक्रिया में नये लक्षणों और प्रश्नों को जोड़ कर चिंतन का अगला मुक़ाम तय करने में मदद करता है। औपनिवेशिक अधीनस्थता के अभूतपूर्व अनुभव को व्यक्त करने के लिए बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय के *धर्मतत्त्व* तथा मोहन दास करमचंद गाँधी की रचना *हिंद स्वराज* में संवाद के ठीक इसी रूप का प्रयोग किया गया है। इसके विपरीत, द्वंद्वात्मक पद्धति विपर्ययों के विश्लेषण को एक उच्च स्तर की ओर प्रवृत्त करते हुए विचार को खण्डन के ज़रिये (और खण्डन के खण्डन) आगे बढ़ाती है। डलज़[23] जैसे कुछ चिंतकों की दलील है कि द्वंद्वात्मकता भिन्नता तथा अनेकार्थकता को बेअसर कर देती है, इसलिए ऐसा कोई भी संश्लेषण विचार को आगे बढ़ाने के बजाय उसका रास्ता ही बंद करता है।

समकालीकरण तथा पुनर्संयोजन

यह एक आम धारणा बन चुकी है कि भारत, चीन या फ़ारस की पूर्व–औपनिवेशिक बौद्धिक परम्पराओं की अब कोई प्रासंगिकता नहीं बची है क्योंकि न तो वे हमारे वर्तमान से वास्ता रखती हैं और न उनके पास ऐसे स्रोत हैं कि आधुनिकता की वैश्विक स्थिति में कोई दख़ल कर सकें। मतलब यह कि ऐसी परम्पराओं का आह्वान करना अगर आधुनिकता का विरोधी होना नहीं है तो ऐसा करके हम ख़ुद को कम से कम कठमुल्ला ज़रूर साबित कर बैठते हैं। ऐसा लगता है कि आज हम प्लेटो, अरस्तू, ऑगस्टीन और एक्वीनास के विचारों का तो अध्ययन कर सकते हैं, परंतु कुमारिल, दिग्नाग, कनफ़्यूशस, अल–फ़राबी या अल–ग़ज़ाली को पढ़ना मानो खुद को बीते ज़माने का आदमी घोषित करना हो जाता है। इस स्थिति के लिए देशजतावादी बुद्धिजीवी भी कम ज़िम्मेदार नहीं रहे हैं क्योंकि वे अपने बौद्धिक 'स्वर्ण–काल' पर इतने मुग्ध रहते हैं कि उन्हें यह बताने की फ़ुर्सत ही नहीं मिलती इन बौद्धिक स्रोतों का आज के समय से क्या ताल्लुक़ है। लिहाज़ा, हमारा सवाल यह हैं चिंतन की ग़ैर–आधुनिक परम्पराओं को समकालीन विचार–जगत का अंग कैसे बनाया जाए? ज़ाहिर है कि इसके बाद सिद्धांत का प्रश्न उन परम्पराओं को समकालीन बनाने का प्रश्न भी बन जाता है जिन्हें आज रहस्यमय या अजूबा समझा जाता है।[24] हमारा मानना है कि इन परम्पराओं से हमें अपने समय को समझने की एक नयी दृष्टि मिल सकती है।

लेकिन, सबसे पहले यह समझा जाए कि परम्पराओं को समकालीन व्यक्तित्व प्रदान करने में क्या चीज़ें शामिल नहीं हैं। एक, किसी परम्परा को मौजूदा समय में स्थापित करने का मतलब उसे यांत्रिक ढंग से इस्तेमाल करना नहीं होता। हमारे कहने का अभिप्राय कौटिल्य या अबुल फ़ज़ल को समकालीन राजनीति में प्रासंगिक बनाना नहीं है। ऐसा करना तो इन परम्पराओं को वर्तमान की छवि में ठूँसना होगा और ज़ाहिर है कि इससे उनकी भिन्नता ख़ारिज हो जाएगी। दूसरे, परम्पराओं की समकालीनता का आशय न्याय अथवा सांख्य दर्शन के तत्त्वों तथा एनालैटिकल फ़िलॉसॉफ़ी या घटना–क्रिया विज्ञान के बीच बिंदुवार सादृश्य ढूँढ़ना भी नहीं है। इसका मतलब प्राचीन दार्शनिकों को पश्चिम के आधुनिक सिद्धांतकारों के चश्मे से देखना (नागार्जुन को ज़ाक देरिदा या कौटिल्य को मैकियावली की नज़र से) भी नहीं है। तीसरे, मिसाल के तौर पर इसका आशय इस प्रकार के प्रभाव से भी नहीं है कि *रामायण* का आज के भारत पर क्या प्रभाव है आदि–आदि, क्योंकि ऐसा कोई भी विचार यह मान कर

---

[23] ज़ील डलज़ (2006) : ix, 195.

[24] एक 'प्रविधि के तौर पर समकालीकरण' नामक इस पद का इस्तेमाल डी.एल. शेठ ने हमारे अध्यापन कार्यक्रम की एक पैनल–परिचर्चा— 'रिसर्चिंग द कंटेम्परी' में किया था. हम उनके इस सुझाव का तहेदिल से शुक्रिया करते हैं लेकिन हम यह पक्के तौर पर नहीं कह सकते कि वे भी इस विचार के सूत्रों का उसी तरह संधान करते जिस तरह हमने किया है.

चलता है कि कृतत्व की क्षमता केवल परम्परा में निहित होती है। ऐसे में प्रभावित होने वाली वस्तु परम्परा के मातहत होकर रह जाती है।

समझना चिंतन की परम्परा को

हमारी दृष्टि में परम्परा की समकालीनता चिंतन-परम्परा की समझ में एक बदलाव की ओर इंगित करती है। हम बौद्धिकता की विभिन्न परम्पराओं को ऐसी जीवंत परम्पराओं की तरह देखते हैं जिनकी शैली और अंतर्वस्तु हमारे वर्तमान में अभी तक गूँजती है और जो लोगों की जीवन-शैली तथा उनके विश्व-बोध को आज तक प्रभावित करती हैं। यह बात तथाकथित परम्परावादियों पर ही नहीं बल्कि आधुनिकता से गहन सरोकार रखने वाले लोगों पर भी लागू होती है। कहना न होगा कि रवींद्रनाथ ठाकुर तथा गाँधी जैसे लोगों का मूल योगदान यह है कि वे आधुनिकता पर बात करते हुए पश्चिमी और भारतीय दार्शनिक परम्पराओं के आर-पार जाने का साहस रखते थे। यह एक ऐसी सिफ़्त थी आधुनिक चिंतन के संदर्भ का कि एक विशिष्ट और तीसरा कोण खींचती थी।

ऐसा लगता है कि आज हम प्लेटो, अरस्तू, ऑगस्टीन और एक्वीनास के विचारों का तो अध्ययन कर सकते हैं, परंतु कुमारिल, दिग्नाग, कनफ़्यूशस, अल-फ़राबी या अल-ग़ज़ाली को पढ़ना मानो खुद को बीते ज़माने का आदमी घोषित करना हो जाता है। इस स्थिति के लिए देशजतावादी बुद्धिजीवी भी कम ज़िम्मेदार नहीं रहे हैं क्योंकि वे अपने बौद्धिक 'स्वर्ण-काल' पर इतने मुग्ध रहते हैं कि उन्हें यह बताने की फ़ुर्सत ही नहीं मिलती इन बौद्धिक स्रोतों का आज के समय से क्या ताल्लुक़ है।

मिसाल के तौर पर, उनके *स्वदेशी समाज* या *ग्राम समाज* में हम पिछले समय की एक ऐसी राजनीतिक परम्परा की झलक देखते हैं जो राज्य-केंद्रित नहीं थी। लेकिन एक आनुभविक परिघटना के रूप में वे पारम्परिक ग्रामीण समाज से बाहर भी निकल रहे थे। इसकी जगह वे सामाजिक जीवन का एक ऐसा विन्यास गढ़ने की कोशिश कर रहे थे जो सत्ता के दोनों रूपों— राज्य तथा जाति से, अलग हो। यहाँ, एक ऐसे ही दूसरे उदाहरण पर विचार किया जा सकता है जिसके अंतर्गत अद्वैत वेदांत में ब्रह्म के परम एकत्व तथा सूफ़ी अल-अराबी के विचार— *वहदत-अल-वुजूद* (अस्तित्व के पूर्णत्व) का भारत के सेकुलर रूप में विनियोग किया गया। यह एक ऐसा प्रयत्न था जो भारत की नयी परिकल्पना— विविधताओं पर आधारित एक अंतर्निहित और गहरी एकता पर ज़ोर देता था। रामकृष्ण परमहंस जैसे संतों के लोकबोधक विमर्श में यही परिघटना धर्मों की मूलभूत एकता के रूप में प्रकट होती है।

इतिहास के दर्शनशास्त्री ईलको रुनिया कहते हैं कि हमारी समकालीनता में कई अतीत मौजूद होते हैं जिन पर या तो हमारा ध्यान नहीं जाता अथवा जिन्हें हम अवशेष मानकर आगे बढ़ जाते हैं। परंतु ये अतीत फिर भी हमारी भावनाओं को प्रभावित करते रहते हैं— अर्थात् उनमें एक ख़ास तरह की प्रभावोत्पादकता बची रहती है। लेकिन अतीत के इन विभिन्न रूपों की उपस्थिति महसूस करने के लिए हमें इतिहासवाद से बच कर चलना होगा। जैसा कि हम जानते हैं, इतिहास अतीत को पूरी तरह समाप्त या किसी मुक़ाम पर पहुँच चुके विचार की तरह ग्रहण करता है। इस इतिहास के नाम पर आज हमारे पास केवल स्मृतियाँ और अवशेष बचे हैं। इतिहासकार इन्हीं अवशेषों से अतीत की छवि का पुनर्निर्माण करता है। इसलिए इतिहासकार द्वारा रचित अतीत कोई उपस्थिति नहीं बल्कि एक चित्रण होता है। और यही वजह है कि आधुनिकता अतीत-विषयक लेखन और अतीत—दोनों को, एक ही नाम से पुकारती है। रुनिया हमें चित्रण की इस रूपरेखा से हटकर यह देखने के लिए आमंत्रित करते हैं कि अतीत की शक्ति और उपस्थिति का हमारे जीवन, सामान्य-बोध तथा साझी भाषा— स्मारकों, स्मृति-चिह्नों, पूर्व-

स्थापित व्यवहारों, मुक्त शब्दों, विचारों, अभिरुचियों तथा अनुभूतियों आदि में वास्तविक रूप क्या होता है।[25]
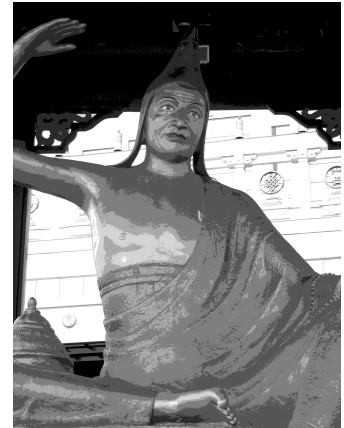
मिसाल के तौर पर हमारे सामान्य-बोध का अंग बन चुके कर्म, रस, हिंसा, राजनीति और सियासत जैसे शब्दों पर ग़ौर करें। रुनिया के मुहावरे का अनुसरण किया जाए तो इन शब्दों में निहित धारणाओं को चिंतन की सुदीर्घ परम्पराओं के निक्षेप की तरह देखा जा सकता है। इस प्रकार, सिद्धांत का एक अहम कार्यभार इन प्रयुक्तियों में संघनित चिंतन-परम्पराओं को खोलना है।[26] शिवाजी बंद्योपाध्याय ने *गीता* के अठारहवीं शताब्दी के बाद होने वाले विभिन्न अनुवादों में अधिकार जैसे पद की यात्रा पर केंद्रित अपने लम्बे निबंध में ठीक यही काम किया है। शिवाजी अपने इस निबंध में केवल उस जटिल प्रक्रिया को ही लक्षित नहीं करते जिसके तहत औपनिवेशिक आधुनिकता में अधिकार और 'राइट' को एक दूसरे का पर्याय मान लिया गया, बल्कि वे पुनर्विचार के अधिकार की उदारतावादी धारणा पर भी दृष्टिपात करते हैं।

महाकाव्यों की परम्परा में शब्दों के महत्त्व पर विचार करते हुए अरिंदम चक्रवर्ती भी कुछ ऐसा ही प्रयत्न करते हैं। चक्रवर्ती कुशलतापूर्वक दिखाते हैं कि यूनानी महाकाव्यों की संरचना जहाँ नायक के पराक्रम के इर्द-गिर्द अवस्थित है, वहीं *महाभारत* जैसा महाकाव्य वार्तालाप की परस्पर गुम्फित संरचना पर आधारित है। गहराई से देखें तो *गीता* स्वयं में कृष्ण और अर्जुन का एक ऐसा वार्तालाप है जो संजय और धृतराष्ट्र के वार्तालाप से घिरा है। चक्रवर्ती इस भेद को दृष्टिगत रख कर महाभारत के एक विशेष प्रसंग— दार्शनिक-सम्राट जनक तथा युवा संन्यासिनी सुलभा के वार्तालाप का अध्ययन करते हैं। यह एक ऐसा प्रसंग है जिसमें दो निहायत असमान हैसियत के संवादी जनता की उपस्थिति में एक-दूसरे से वाद-विवाद करते हैं।

चक्रवर्ती जनक-सुलभा के इस शास्त्रार्थ को एक ऐसे वाक्-सिद्धांत की तरह पढ़ते हैं जिसमें यह माना जाता है कि वाक् पहले से ही एक पदानुकृत संदर्भ में विन्यस्त रहता है। यह एक ऐसी बात है जिसे संवाद और सम्प्रेषण -रैशनेलिटी के सिद्धांतकार स्वीकार करने से कतराते हैं। इस प्रसंग में सुलभा तर्क-कला के विभिन्न रूपों— *वितण्डा, तर्क, न्याय, उहा* तथा *युक्ति* के पक्ष-विपक्ष का प्रदर्शन करते हुए अपनी प्रांजल वक्तृता से जनक को परास्त कर देती है। *महाभारत* का एक समकालीन भाष्य रचते हुए चक्रवर्ती हमें तार्किकता की एक ऐसी छवि थमाते हैं जिसे निस्संदेह एक प्रकार की गतिविधि कहा जा सकता है। यह तार्किकता ज्ञानोदय की उस धारणा से भिन्न है जिसमें तर्क सार्वभौम सत्त्व/अभिकर्ता के रूप में उपस्थित होता है। चक्रवर्ती यह दलील भी देते हैं कि अगर लोकतंत्र सार्वजनिक प्रतिवाद की प्रणाली है तो वाद-विवाद के विभिन्न ऐतिहासिक तौर-तरीक़ों का अध्ययन 'डायलॉग' जैसे अमूर्त मानक के बजाय सार्वजनिक तर्क की मशीनरी को ज़्यादा सुदृढ़ करता है।[27]

पश्चिमी सिद्धांत के बरअक्स बंद्योपाध्याय तथा चक्रवर्ती के उदाहरण सिद्धांतीकरण के चौथे सम्भावित तरीक़े की ओर इंगित करते हैं। अपनी इस भंगिमा को चक्रवर्ती 'परम्परा से इतर और कालक्रम की बाध्यता से मुक्त विश्लेषण' (ट्रांस-हिस्टॉरिकल एनैक्रोनिस्टिक एनेलिसिस) कहते हैं जिसमें अलग-अलग काल-खण्डों की चिंतन-परम्पराओं को समकालीनता में ढाल कर एक-दूसरे के समक्ष खड़ा कर दिया जाता है। हमारी दृष्टि में यह परम्परा को समकालीन बनाने का सबसे अपरिहार्य प्रविधिमूलक तत्त्व है। हम यहाँ एक बात और जोड़ना चाहते हैं कि परम्परा को समकालीन बनाने का

---

[25] ईलको रुनिया (2014) : 49-83.

[26] हालाँकि यहाँ हम शब्दों की बात कर रहे हैं, लेकिन इस संदर्भ में उन ऐतिहासिक स्मारकों, चित्रों, भोजन, परिधान आदि का उल्लेख भी किया जा सकता है जिन्हें आजकल 'भौतिक संस्कृति' में शुमार किया जाता है.

[27] अरिंदम चक्रबर्ती (2014) : 244-83.

संबंध केवल दूरस्थ अतीत से ही नहीं है। वस्तुतः यह प्रक्रिया समय की एकरैखिकता के विचार से पिण्ड छुड़ाने के बाद ही शुरू हो सकती है क्योंकि दूरस्थ अतीत, हालिया अतीत और वर्तमान— यहाँ तक कि भविष्य भी, न केवल एक साथ मौजूद हो सकते हैं, बल्कि समकालीन के रूपांतरण की परियोजना में समवेत ढंग से सक्रिय हिस्सेदारी कर सकते हैं।

विगत को समकालीनता में आयत्त करना कोई निष्पक्ष कार्रवाई न होकर राजनीतिक तौर पर एक सचेत कार्रवाई होती है। यह बात आम्बेडकर के अध्ययन से साबित होती है। आम्बेडकर ने बौद्ध धर्म में केवल प्राण ही नहीं फूँके बल्कि उसे समकालीनता से भी लैस किया। आम्बेडकर ने एक विलुप्त और परायेपन का शिकार बन चुकी बौद्ध परम्परा को गहरे द्वंद्वों से भरे और एक ऊबड़-खाबड़ वर्तमान में स्थापित करके एक ऐसे भविष्य को साकार करने का जतन किया जो सिर्फ़ राज्य अथवा सामाजिक लामबंदी के बूते मुमकिन नहीं था। यह एक ऐसा भविष्य था जिसे पहले दार्शनिक स्तर पर हासिल करना ज़रूरी था। आम्बेडकर इस भविष्य पर दर्शन के ज़रिये पहुँचे। ग़ौरतलब है कि यह भविष्य वर्तमान के अंतर्निहित तर्क द्वारा पैदा नहीं हो सकता था— यह उनके चिंतन में आधुनिक तथा ग़ैर-आधुनिक और परम्परा तथा प्रति-परम्परा की जटिल मुठभेड़ के बिना सम्भव नहीं था। हिंदू धर्म के शास्त्रों, बौद्ध धर्म, पूजा-अर्चना की रीतियों के मानवशास्त्र, गाँधीवाद, उदारतावाद, अमेरिकी व्यवहारवाद तथा मार्क्सवाद आदि के बीच चहलक़दमी करते हुए आम्बेडकर मूलतः अलग-अलग समय और जगहों की परम्पराओं को समकालीनता में विन्यस्त कर रहे थे। आज आम्बेडकर के साथ भी लगभग यही हो चुका है। भारत में आज़ादी के बाद लम्बे समय तक जान बूझकर गुमनामी में रखा गया यह शख़्स आज हमारे समय के ऐन बीच खड़ा है। आज उनका चिंतन और व्यक्तित्व हमारे वर्तमान को अभूतपूर्व और अप्रत्याशित ढंग से बदल रहा है।

हमें लगता है कि अब हम पूर्व परम्पराओं को समकालीन बनाने के इस प्रस्ताव के आख़िरी बिंदु यानी समकालीकरण और चीज़ों को इतिहास-बद्ध करने की कार्रवाई के आपसी संबंध पर पहुँच गये हैं। अगर इतिहासबद्ध करने की कार्रवाई हमें किसी चिंतक और उसके विचारों को उचित ऐतिहासिक संदर्भ में अवस्थित करने

यह मानते हुए कि किसी संदर्भ विशेष को चिह्नित कर पाना हमेशा सम्भव होता है, किसी विचार की सम्भावनाओं को व्यापक और भिन्न संदर्भों में परखने की शर्त ये है कि पहले उस विचार को उसके उद्भव की विगत स्थितियों से मुक्त किया जाए। उन्नीसवीं सदी के आख़िरी और बीसवीं सदी के शुरुआती दौर में आम्बेडकर ने बौद्ध धर्म तथा उपनिषदों के संबंध में टैगोर ने यही रुख अख़्तियार किया था। इस अर्थ में समकालीकरण एक ऐसा राजनीतिक कृत्य है जो चीज़ों को एक ही साथ संदर्भ से च्युत करने तथा उन्हें पुनः संदर्भ में रखने जैसे किसी भी कृत्य से कहीं ज़्यादा उम्दा है।

की सहूलियत देती हैं तो इसका एक अंजाम यह भी होता है कि वह चिंतक उस ख़ास संदर्भ में क़ैद होकर रह जाता है। निश्चय ही, हमें यह जानने की ज़रूरत पड़ती है कि अमुक चिंतक का 'वास्तविक आशय' क्या रहा होगा और इतिहास का लेखन हमें वह परिप्रेक्ष्य हासिल करने में मदद करता है। परंतु, यह मानते हुए कि किसी संदर्भ विशेष को चिह्नित कर पाना हमेशा सम्भव होता है, किसी विचार की सम्भावनाओं को व्यापक और भिन्न संदर्भों में परखने की शर्त ये है कि पहले उस विचार को उसके उद्भव की विगत स्थितियों से मुक्त किया जाए। उन्नीसवीं सदी के आख़िरी और बीसवीं सदी के शुरुआती दौर में आम्बेडकर ने बौद्ध धर्म तथा उपनिषदों के संबंध में टैगोर ने यही रुख अख़्तियार किया था। इस अर्थ में समकालीकरण एक ऐसा राजनीतिक

कृत्य है जो चीज़ों को एक ही साथ संदर्भ से च्युत करने तथा उन्हें पुन: संदर्भ में रखने जैसे किसी भी कृत्य से कहीं ज़्यादा उम्दा है।

लेकिन यहाँ इस बात का ख़याल रखा जाना चाहिए कि विद्वत्कर्म के तौर पर समकालीकरण एक ऐसा विचार है जिसे अपना नवीकरण और पुनर्निर्माण करते हुए राजनीति के प्रारम्भिक क्षण का अतिक्रमण कर जाना चाहिए। इस प्रक्रिया में परम्परा के उन बंद बक्सों को खोलना तथा प्रति-परम्पराओं को 'बरामद' करना भी शामिल है जिन्हें हम न केवल बौद्ध धर्म में बढ़ती दिलचस्पी, बल्कि भारत में आधुनिक समय में चार्वाक/लोकायत जैसे भौतिकतावादी दर्शन के प्रति दुबारा उभरती रुचि में भी लक्षित कर सकते हैं। परंतु, इस आरोग्य-लाभ के बाद हमें एक दूसरे स्तर पर यह भी ध्यान रखना होगा कि समकालीकरण का अनिवार्य अर्थ किसी चिंतन, उसकी अवधारणाओं तथा श्रेणियों के साथ समय और स्थानों के आरपार जा कर इस प्रकार संवाद करना है कि हम वर्तमान की चुनौतियों से भिड़ने के लिए नयी अंतर्दृष्टि और नयी अवधारणाएँ तैयार कर सकें। इसके लिए हमें एक ऐसी 'सैद्धांतिक रचना' की ज़रूरत है जो आत्म-चेतन होने के साथ एक नये दृष्टि-विज्ञान के प्रकाश से भी लैस हो। लिहाज़ा, हमें आम्बेडकर या रवींद्रनाथ जैसे लोगों के शुरुआती प्रयासों को ग़ौर से देखना चाहिए जो एक नये क़िस्म का दृष्टि-विज्ञान विकसित करने की कोशिश में अपने चिंतन के अलावा अतीत की परम्पराओं के पास भी जाते हैं।

निष्कर्ष के तौर पर कहा जाए तो कोई विचार 'सिद्धांत' के स्तर पर तभी पहुँच सकता है जब वह ख़ुद को अपने उद्‌भव की सीमाओं से मुक्त करके अजनबी जगहों और समयों से मिलने की ललक दिखाए। इसके बग़ैर हम किसी परम अमूर्त विचार को एक समय की प्रबल परम्परा का अंग बताकर उसकी कितनी भी प्रशंसा कर लें, लेकिन उससे हमें दुनिया को समझने में कोई मदद नहीं मिलेगी। यही वजह है कि सिद्धांत की सबसे बड़ी कसौटी उसका अपने संदर्भ से निष्क्रमण कर जाना है। लेकिन आधुनिकता की तरह इस बात का 'सार्वभौम' के साथ घालमेल नहीं करना चाहिए क्योंकि वस्तुत: 'सिद्धांत की रचना' का उपोद्‌घात तभी होता है जब किसी परम्परा से निकले विचारों और अवधारणाओं का पुनर्सृजन और प्रत्यास्थापन इस तरह किया जाए कि उसकी अनुगूँज और प्रभाव को वर्तमान में महसूस किया जा सके।

संदर्भ

अरिंदम चक्रवर्ती (2014), 'जस्ट वर्ड्स', *महाभारत नाउ : नैरेशन, ऐस्थेटिक्स, इथिक्स,* अरिंदम चक्रबर्ती एवं शिवाजी बंद्योपाध्याय (सं.), रूटलेज, नयी दिल्ली.

आना-प्या हदि (2012),'कंसेप्चुअलाइजिंग फ़िलॉसफ़िकल ट्रेडिशन : अ रीडिंग ऑफ़ विल्हेम हैल्बफ़ास, दया कृष्ण एवं जितेंद्र नाथ मोहंती', *फ़िलॉसफ़ी ईस्ट ऐंड वेस्ट,* अंक 61.

आदित्य निगम (2014), 'मॉलिक्यूलर इकॉनॉमी इज़ देअर ऐन 'आउटसाइड' टू कैपिटल?' *क्रिटिकल स्टडीज़ इन पॉलिटिक्स एक्सप्लोरिंग साइट्स, सेल्व्ज, पॉवर,* निवेदिता मेनन, संजय पल्शीकर एवं आदित्य निगम (सं.), आइआइएस एवं ओरियंट ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली.

आशिस नंदी (1995), 'हिस्ट्रीज फॉरगोटन डबल्स', *हिस्ट्री ऐंड थियरी,* 34(2).

ईलको रुनिया (2014), *मूव्ड बाइ द पास्ट : डिस्कंटीन्युइटी ऐंड हिस्टॉरिकल म्युटेशन,* कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्युयॉर्क.

उत्सा पटनायक (सं.)(1990), *एग्रेरियन रिलेशंस ऐंड एक्युमुलेशन : द मोड ऑफ़ प्रोडक्शन डिबेट इन इण्डिया,* समीक्षा ट्रस्ट एवं ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, मुम्बई.

एडमंड हसर (1970), *द क्राइसिस ऑफ़ युरोपियन साइंसेज़ ऐंड ट्रांसडेंटल फ़िनॉमिनोलॅजी : ऐन इंट्रोडक्शन टू फ़िनॉमिनोलॅजिकल फ़िलॉसफ़ी,* नॉर्थवेस्टर्न युनिवर्सिटी प्रेस, इवांसटन.

ऐलिस थोरनर (1982), 'सेमी-फ़्यूडल ऑर कैपिटलिज़म? कंटेम्पररी डिबेट ऑन क्लासेज़ ऐंड मॉड्स ऑफ़

प्रोडक्शन इन इण्डिया', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* 17.
कल्याण सान्याल (2007), *रीथिंकिंग कैपिटलिस्ट डिवेलपमेंट : प्रिमिटिव एक्युमुलेशन, गवर्मेंटेलिटी ऐंड पोस्ट-कोलोनियल कैपिटलिज़म,* रूटलेज, नयी दिल्ली.
क्रिस्टॉफ़र जॉनसन (2012),'ब्रिकॉलेअर ऐंड ब्रिकॉलेज : फ्रॉम मेटाफ़र टू युनिवर्सल कॉन्सेप्ट', *पैराग्राफ़,* अंक 35, संख्या 3.
ग्योर्ग सिमेल (1978), द *फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ मनी,* (अनु.) बटमॉर एवं डेविड फ्रिस्बी, रूटलेज एवं कीगन पॉल, लंदन.
जितेंद्र नाथ मोहंती (1994), *थियरी ऐंड प्रैक्टिस इन इण्डियन फ़िलॉसफ़ी,* के.पी. बागची ऐंड कम्पनी, कलकत्ता.
ज़ील डलज़ और फ़ेलिक्स गोठारी (1994), *व्हाट इज़ फ़िलॉसफ़ी,* कोलंबिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्युयॉर्क.
ज़ील डलज़ (2006), *नीत्शे ऐंड फ़िलॉसफ़ी,* कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्युयॉर्क.
जी.डब्ल्यू. एफ़ हेगेल (1975), *लेक्चर्स ऑन द फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ वर्ल्ड हिस्ट्री* (1857), (अनु.) एच.बी. निस्बेत, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
जूलियाँ फ्रांस्वा (2004), *अ ट्रीटाइज़ ऑन ऐ.फ़ेकसी बिटवीन वेस्टर्न ऐंड चाइनीज थिंकिंग,* युनिवर्सिटी ऑफ़ हवाई प्रेस, होनोलुलु.
जेक्स बर्लिनब्लो (1999), *हेरेसी इन द युनिवर्सिटी : द ब्लैक एथेना कंट्रोवर्सी ऐंड द रिस्पॉन्सिबिलिटीज़ ऑफ़ अमेरिकन इंटेलेक्चुअल्स,* रुट्ज़र युनिवर्सिटी प्रेस, न्यु ब्रंसविक.
जॉन एम. कोलर (2000), 'स्यादवाद एज़ द एपिस्टेमॉलजिकल की टू द जैन मिडिल वे मेटाफ़िजिक्स ऑफ़ अनेकांतवाद', *फ़िलॉसफ़ी ईस्ट ऐंड वेस्ट* 50, 3.
पार्थ चटर्जी (2004), द *पॉलिटिक्स ऑफ़ द गवर्न्ड : रिफ़्लेक्शंस ऑन पॉपुलर पॉलिटिक्स इन मोस्ट ऑफ़ द वर्ल्ड,* कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्युयॉर्क.
..............(2011), *लीनियेजिज़ ऑफ़ पॉलिटिकल सोसाइटी : स्टडीज़ इन पोस्ट-कॉलोनियल डेमाक्रैसी,* कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्युयॉर्क.
पीटर जे. पार्क (2014), *अफ़्रीका, एशिया ऐंड द हिस्ट्री ऑफ़ फ़िलॉसफ़ी : रेसिज़म इन द फ़ॉर्मेशन ऑफ़ फ़िलॉसफ़िकल कैनन, 1780-1830,* सनी प्रेस, न्युयॉर्क.
ब्रायन ब्लैक, गैविन हायमैन एवं ग्रैहम स्मिथ (2014),(सं.), *कंफ्रंटिंग सेकुलरिज़म इन युरोप ऐंड इण्डिया लेजिटिमेसी ऐंड डिस्ऐनचेंटमेंट इन कंटेम्परारी टाइम्स,* ब्लूम्सबरी, लंदन.
बी.आर. आम्बेडकर (1987), '*फ़िलॉसफ़ी* ऑफ़ हिंदुइज़म', *बाबासाहेब आम्बेडकर्स राइटिंग्स ऐंड स्पीचिज़-1,* वसंत मून (सं.), ऐजुकेशन डिपार्टमेंट, गवर्नमेंट ऑफ़ महाराष्ट्र, मुम्बई.
मार्टिन हाइडेगर (1977), द *क्वेशचन कंसर्निंग टेक्नॉलजी ऐंड अदर ऐसेज़,* हार्पर ऐंड रॉ, न्युयॉर्क.
मार्टिन बरनाल (1987), *ब्लैक एथेना : द अफ़्रो-एशियाटिक रूट्स ऑफ़ सिविलाइज़ेशन,* रुट्ज़र युनिवर्सिटी प्रेस, न्यु ब्रंसविक.
मैरी आर. लेफ़कॉवित्ज़ (1996), *नॉट आउट ऑफ़ अफ़्रीका : हाउ अफ़्रोसेंट्रिज़म बिकेम ऐन एक्सक्यूज़ टू टीच मिथ एज़ हिस्ट्री,* बेसिक बुक्स, न्युयॉर्क.
लौरा यू. मार्क्स (2010), *एनफ़ोल्डमेंट ऐंड इनफ़िनिटी : इस्लामिक जीनियालजी ऑफ़ न्यू मीडिया आर्ट,* एमआइटी प्रेस, केम्ब्रिज.
विल्हेल्म हैल्बफ़ास (1988), *दर्शन, इण्डिया ऐंड युरोप : ऐन एसे इन अंडरस्टैंडिंग,* सनी प्रेस, अल्बनी.
विलियम ई. कोनोली (2013), 'द न्यु मैटेरिएलिज़म ऐंड द फ्रेजिलिटी ऑफ़ थिंग्ज़', *मिलेनियम—जर्नल ऑफ़ इंटरनेशनल स्टडीज़,* जून, अंक 41.
शहाना चटर्जी (2012), 'शंघाई ड्रीम्स : अर्बन रिस्ट्रक्चरिंग इन ग्लोबलाइज़िंग वर्ल्ड मुम्बई', पीएच.डी. शोध-प्रबंध, प्रिंसटन युनिवर्सिटी.
शिवाजी बंद्योपाध्याय (2015), *थ्री एस्सेज़ ऑन द महाभारत : ऐक्सरसाइज़ेज़ इन लिटरेरी हर्मेन्युटिक्स,* ओरियंट ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली.
सुंदर सरुक्कै (2013),'ट्रांसलेशन एज़ मैथड : इंप्लीकेशंस फ़ॉर हिस्ट्री ऑफ़ साइंस', द *सर्कुलेशन ऑफ़ नॉलेज बिटवीन ब्रिटेन, इण्डिया ऐंड चाइना,* (सं.), बी. लाइटमैन, जी. मकाऊट तथा एल. स्टीवर्ट, ब्रिल प्रेस, लीडन.